ॐ

श्रीमद्वरदराजाचार्य्यप्रणीता

* लघु-सिद्धान्त-कौमुदी *

श्रीभीमसेनशास्त्रिनिर्मितया भैमीव्याख्ययोद्भासिता

तत्र प्रथमो भागः

(पूर्वाऽर्धम्)

*

(व्याख्याकर्तुर्मङ्गलाचरणम्)

प्राप्यतेऽन्विष्यमाणो न यः कुत्रचिद्
योगिविद्वज्जनैर्हा कुतोऽन्यैर्नरैः ।
आदिमध्यान्तशून्यं प्रभुं निर्गुणं
स्वस्य चित्तोपशान्त्यै तमेवाश्रये ॥ १ ॥

सर्वाऽभिलाष - दातारं शरणाऽऽगत - तारकम् ।
अभिलाषशतं त्यक्त्वा प्रपन्नोऽस्मि जगद्गुरुम् ॥ २ ॥

व्याख्याता सूरिभिः कामं, लघुसिद्धान्तकौमुदी ।
भाषाटीका तथाप्यस्या बोधदा नैव दृश्यते ॥ ३ ॥

अक्षरार्थपराः सर्वे विमुखा भाववर्णनात् ।
वृथाऽनपेक्षं जल्पन्तः पाण्डित्यमदगर्विताः ॥ ४ ॥

तेभ्यः खिन्नो विनोदाय बालानामुपकारिणीम् ।
स्वाधीतस्य प्रचाराय टीकामेतां करोम्यहम् ॥ ५ ॥

सुस्पष्टपदलालित्यं सुष्ठु भावस्य कीर्तनम् ।
वटून् दृष्ट्वा कृतं सर्वं न च पाण्डित्यगर्वतः ॥ ६ ॥

टीकामेतां जगद् दृष्ट्वा गदिष्यत्येकया गिरा ।
बालानामुपकारोऽभूद् यः कृतो नैव केनचित् ॥ ७ ॥

कृपा स्याज्जगदीशस्य यत्नो मे सफलो भवेत् ।
यतो मौर्ख्याभिभूतस्य को देवादपरोऽस्ति मे ॥ ८ ॥

[लघु०] नत्वा सरस्वतीं देवीं शुद्धां गुण्यां करोम्यहम् ।
पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम् ॥ १ ॥

अन्वयः—अहम् (वरदराजः) शुद्धां गुण्यां सरस्वतीं देवीं नत्वा पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीं करोमि ।

अर्थः—मैं (वरदराज) शुद्ध तथा गुणों से युक्त सरस्वती देवी को नमस्कार कर पाणिनि के बनाये व्याकरणशास्त्र में (बालकों के) प्रवेश के लिये **लघुसिद्धान्तकौमुदी** को बनाता हूं ।

व्याख्या—ज्ञान की अधिष्ठात्री (स्वामिनी) एक देवी मानी जाती है, जिसे सरस्वती कहते हैं । ग्रन्थकार ने आदि में उसे इसलिये नमस्कार किया है कि वह प्रसन्न होकर मेरे ऊपर कृपा करे जिस से मैं ग्रन्थ बनाने में समर्थ हो सकूं । इस ग्रन्थ के बनाने वाले वरदराज नामक पण्डित हैं । इन का सम्पूर्ण वृत्तान्त भूमिका में लिखा है देख लें । जिस से किसी भाषा के शुद्ध अशुद्ध होने का ज्ञान हो, उसे उस भाषा का व्याकरण कहते हैं । संस्कृतभाषा के अनेक व्याकरण हैं । यथा—पाणिनीय, कातन्त्र, चान्द्र, मुग्धबोध, सारस्वत आदि । संस्कृतभाषा के सम्पूर्ण व्याकरणों में पाणिनिमुनि का बनाया व्याकरण ही सब से श्रेष्ठ और प्रचलित है । इस के अध्ययन में कठिनता का अनुभव कर वरदराज ने यह **लघुसिद्धान्तकौमुदी** बनाई है । 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' शब्द का अर्थ **कुछ व्याकरण-सिद्धान्तों को चांदनी के समान प्रकाशित करने वाली** है ।

टिप्पणी— गुण्याम् = प्रशस्ता गुणाः सन्त्यस्या इति गुण्या । ताम् = गुण्याम् । [**रूपादाहतप्रशंसयोर्यप्** (५ . २ . १२०) इति सूत्रस्थेन **अन्येभ्योऽपि दृश्यते** इति वार्तिकेन यप्] । पाणिनीयप्रवेशाय— पाणिनिना प्रोक्तम् = पाणिनीयम्, तस्मिन् प्रवेशः = पाणिनीयप्रवेशस्तस्मै = पाणिनीयप्रवेशाय । लघुसिद्धान्तकौमुदी—लघवः = असमग्रा ये सिद्धान्ताः = ऊहापोहकृतनिश्चितविचारास्तेषां कौमुदी = कौमुदीव = चन्द्रिकेव । [अत्रत्यः कौमुदीशब्दः कौमुदीवेत्यर्थे लाक्षणिकः] । यथा हि ज्योत्स्ना तमो निरस्य सकलभावान् प्रकाशयति, दिनकरकिरणजनितं तापमुपशमयति, तथेयमप्यज्ञानन्दूरीकृत्य महाभाष्यादिदुरूहग्रन्थजनितं तापमुपशमय्य व्याकरणसिद्धान्तान् मानसे प्रकटीकरोतीति सादृश्यम् ।

अथ संज्ञाप्रकरणम्

[लघु०] अइउण् ॥१॥ ऋऌक् ॥२॥ एओङ् ॥३॥ ऐऔच् ॥४॥ हयवरट् ॥५॥ लँण् ॥६॥ ञमङणनम् ॥७॥ झभञ् ॥८॥ घढधष् ॥९॥ जबगडदश् ॥१०॥ खफछठथचटतव् ॥११॥ कपय् ॥१२॥ शषसर् ॥१३॥ हल् ॥१४॥

इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसञ्ज्ञार्थानि। एषामन्त्या इतः। हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः। लँण्मध्ये त्वित्सञ्ज्ञकः॥

अर्थः—ये चौदह सूत्र माहेश्वर अर्थात् महादेव से आये हुए हैं। इन का प्रयोजन अण् आदि संज्ञा करना है। इन के अन्त्य वर्ण इत्सञ्ज्ञक हैं। हकार आदियों में अकार उच्चारण के लिये है। परन्तु 'लँण्' सूत्र में वह इत्सञ्ज्ञक है।

व्याख्या—कहते हैं कि महामुनि पाणिनि विद्यार्थि-अवस्था में अत्यन्त मन्दमति थे। जब इन्हें पढ़ने से भी कुछ ज्ञान न हुआ, तब ये खिन्न हो गुरुकुल छोड़ तपस्या करने के लिये हिमाचल पर चले गये। वहां इन्होंने शिवजी की आराधना की। शिवजी ने प्रसन्न हो, चौदह बार डमरू बजाया। उस से पाणिनि ने **अइउण्** आदि चौदह सूत्र प्राप्त किये। इस लिये इन सूत्रों को माहेश्वर अर्थात् महादेव से प्राप्त हुआ कहते हैं। परन्तु कई एक इस बात को प्रमाण-शून्य होने से ग़लत मानते हैं। उन का कथन है कि इन सूत्रों को बनाने वाले पाणिनि ही हैं[1]। परन्तु चाहे कुछ भी क्यों न हो, इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि ये सूत्र पाणिनीय-व्याकरण के प्राण हैं। इन के विना पाणिनीय-व्याकरण चल ही नहीं सकता। इन का उपयोग आगे चल 'अण्' आदि संज्ञाओं के करने में किया जावेगा। हम वहीं पर इन्हें स्पष्ट करेंगे।

जो अन्त में रहे उसे अन्त्य या अन्तिम कहते हैं। इन चौदह सूत्रों के 'ण्, क्, ङ्, च्, ट्, ण्, म्, ञ्, ष्, श्, व्, य्, र्, ल्' ये चौदह वर्ण अन्त्य हैं। इन की इत्संज्ञा है अर्थात् ये इत् नाम वाले हैं। ध्यान रहे कि इस शास्त्र में संज्ञा, संज्ञक और संज्ञी शब्दों का बहुत व्यवहार होता है। जो नाम हो वह संज्ञा और जिसका नाम हो वह संज्ञक या संज्ञी होता है। जैसे 'इस का नाम देवदत्त है' यहां 'देवदत्त' यह शब्द संज्ञा और सामने खड़ा हुआ हाड मांस वाला लम्बा चौड़ा मनुष्य संज्ञक या संज्ञी है। इसी प्रकार यहां ण्, क् आदि संज्ञक या संज्ञी होंगे और 'इत्' यह संज्ञा होगी। प्रत्येक वस्तु की संज्ञा व्यवहार की आसानी के लिये ही होती है; यथा मेरी संज्ञा 'भीमसेन' है। इस से यह होगा कि लोग मुझे व्यवहार में आसानी से ला सकेंगे। कोई मुझे बुलाना चाहेगा तो कहेगा 'भीमसेन ! आओ'; कोई मुझे पढ़ाना चाहेगा तो कहेगा 'भीमसेन ! पढ़ो'; कोई खिलाना चाहेगा तो कहेगा 'भीमसेन ! खाओ'; कोई मेरा पता पूछेगा तो कहेगा 'भीमसेन कहां हैं ?' अब कल्पना करें कि यदि मेरा कोई नाम न होता तो जिस ने मुझे बुलाना होता वह दूसरे के प्रति क्या कहता ? कि 'उस दुबले पतले मनुष्य को जिस का रङ्ग ऐसा २ है, सिर पर अमुक २ रङ्ग की टोपी है, पैर में फलां प्रकार का जूता है, लाओ'। तब सम्भव है कि सुनने वाला पुरुष उसे न समझ पाता। अथवा मेरी जगह किसी अन्य को ला खड़ा करता; तो कहने का तात्पर्य यह है कि नाम अर्थात् संज्ञा के विना न तो जगत् का व्यवहार और न ही शास्त्र का व्यवहार चल

---

१. इस विषय पर **प्रत्याहार-सूत्रों का निर्माता कौन ?** नामक हमारा लघुशोधनिबन्ध देखें, जो **भैमी प्रकाशन दिल्ली** से प्रकाशित हो चुका है।

सकता है। व्यवहार के लिये आवश्यक है कि जिसका हम व्यवहार करना चाहें उस की कोई न कोई संज्ञा अवश्य करें। विना संज्ञा के कभी व्यवहार नहीं चल सकता। यहां आगे **आदिरन्त्येन सहेता** (४) आदि सूत्रों में इन ण्, क् आदि अक्षरों का व्यवहार करना है, अतः इन की 'इत्' यह संज्ञा की जाती है।

हमारी लिपि अर्थात् वर्णमाला में दो प्रकार के अक्षर हैं। एक तो 'अ, इ, उ' आदि स्वर, दूसरे 'क्, ख्, ग्, घ्' आदि व्यञ्जन या हल्। व्यञ्जनों का उच्चारण स्वरों के मिलाये विना नहीं हो सकता। इसलिये आजकल की वर्णमाला की छोटी २ पुस्तकों में भी 'क, ख, ग, घ, ङ' इत्यादि प्रकार से अकार-युक्त व्यञ्जन देखने में आते हैं।[1]

इन चौदह सूत्रों में 'हयवरट्' सूत्र के हकार से व्यञ्जन आरम्भ होते हैं। इन में भी अकार केवल इसीलिये है कि इन का उच्चारण हो सके; क्योंकि अकार के विना 'ह्, य्, व्, र्, ट्' इस प्रकार उच्चारण नहीं हो सकता। अतः अकार का इन में ग्रहण नहीं करना चाहिये। यदि अलग २ अकार ग्रहण के लिये होता तो उस का बार २ उच्चारण न होता। क्योंकि ग्रहण तो एक बार के उच्चारण से भी हो जाता, तो पुनः ग्रन्थ क्यों बढ़ाते ?

लँण् इस सूत्र में लकारस्थ (लकार में ठहरा हुआ) अकार उच्चारण के लिये नहीं किन्तु प्रयोजन-वशात् इत्संज्ञक है। इसका प्रयोजन 'रँ' प्रत्याहार सिद्ध करना है जो आगे **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) सूत्र पर मूल में ही स्पष्ट हो जावेगा। हम भी इस की वहीं व्याख्या करेंगे।

टिप्पणी—महेश्वरादागतानि=माहेश्वराणि। **तत आगतः** (१०६८) इत्यण्। अण् आदिर्यासां ता अणादयः, अणादयश्च ताः संज्ञाः=अणादिसंज्ञाः। अणादिसंज्ञार्थः प्रयोजनं येषान्तानीमानि=अणादिसंज्ञार्थानि।

अन्त्या वर्णा इतो ज्ञेयाः, प्रत्याहारोपयोगिनः।
अकारो मुखसौख्याय हकारादौ प्रकीर्तितः॥१॥
परमेतं बुधाः प्राहुर् इतमेव गतं लणि।
रेत्यपूर्वस्ततस्तेन प्रत्याहारः प्रजायते॥२॥

---

१. व्यञ्जनों के साथ स्वर मिलाने का प्रकार यथा—
क्+अ=क, क्+आ=का, क्+इ=कि, क्+ई=की, क्+उ=कु, क्+ऊ=कू, क्+ऋ=कृ, क्+ॠ=कॄ, क्+लृ=क्लृ, क्+ए=के, क्+ऐ=कै, क्+ओ=को, क्+औ=कौ, क्+अं=कं, क्+अः=कः। इसी प्रकार अन्य व्यञ्जनों के साथ भी संयोग कर लेना चाहिये। इन में से 'कि' पर विशेष ध्यान देना चाहिये। प्रायः कई बालक 'कि' में 'इ' को प्रथम और क् को पश्चात् लिखा माना करते हैं, उन्हें उपर्युक्त प्रकार से अपनी भ्रान्ति दूर कर लेनी चाहिये। ध्यान रहे कि विना स्वर व्यञ्जन का संयोग जाने कदाचित् इस ग्रन्थ में प्रवेश ही नहीं हो सकता।

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(१) हलन्त्यम् ।१।३।३।।

उपदेशेऽन्त्यं हलित् स्यात् । उपदेश आद्योच्चारणम् । सूत्रेष्वदृष्टम्पदं सूत्रान्तरादनुवर्त्तनीयं सर्वत्र ।।

अर्थः—उपदेश में वर्त्तमान अन्त्य हल् इत्संज्ञक हो । **उपदेशः**—आद्यों के उच्चारण को अथवा धातु आदि के आद्य उच्चारण को उपदेश कहते हैं । **सूत्रेषु**—सूत्रों में जो पद न हो (पर वृत्ति में दिखाई दे) वह पद सर्वत्र पिछले (या कहीं २ अगले) सूत्रों से ले लेना चाहिये ।

व्याख्या—इस व्याकरण के प्रथम कर्त्ता महामुनि पाणिनि हैं । इन्होंने 'अष्टाध्यायी' नामक जगत्प्रसिद्ध ग्रन्थ रचा है । इस ग्रन्थ में आठ अध्याय और प्रत्येक अध्याय में चार २ पाद हैं । अर्थात् सब मिला कर बत्तीस पाद अष्टाध्यायी में हैं । हर एक पाद में भिन्न भिन्न सङ्ख्याओं में सूत्र हैं । इन सब की तालिका निम्न प्रकार से समझनी चाहिये ।

अध्यायनाम	प्रथमपाद	द्वितीयपाद	तृतीयपाद	चतुर्थपाद	सम्पूर्णसंख्या
प्रथमाध्याय	७४	७३	९३	१०९	३४९
द्वितीयाध्याय	७१	३८	७३	८५	२६७
तृतीयाध्याय	१५०	१८८	१७६	११७	६३१
चतुर्थाध्याय	१७६	१४४	१६६	१४४	६३०
पञ्चमाध्याय	१३५	१४०	११९	१६०	५५४
षष्ठाध्याय	२१७	१९८	१३८	१७५	७२८
सप्तमाध्याय	१०३	११८	११९	९७	४३७
अष्टमाध्याय	७४	१०८	११९	६८	३६९
समग्र अष्टाध्यायी की सूत्रसंख्या—					३९६५

प्राचीन काल में यह सम्पूर्ण अष्टाध्यायी कण्ठस्थ की जाती थी । तदनन्तर व्याकरण पढ़ा जाता था । तभी तो काशिकाकार जयादित्य, पदमञ्जरीकार हरदत्त, शेखरकार नागेशभट्ट सरीखे विद्वान् उत्पन्न होते थे । परन्तु अब इस परिपाटी के मन्द

हो जाने से वैसे विद्वान् उत्पन्न नहीं होते। अब भी यदि इस परिपाटी का पुनरुद्धार हो जावे तो पुनः वैसे विद्वान् निकलने लग पड़ेंगे। **कर्त्तव्योऽत्र यत्नः।**

इस ग्रन्थ में अष्टाध्यायी के सूत्र बिखरे हुए हैं। इन सूत्रों के आगे तीन अङ्क लिखे हैं। इन में से पहला अष्टाध्यायी के अध्याय का सूचक, दूसरा पादसूचक तथा तीसरा सूत्रसूचक समझना चाहिये। यथा — **हलन्त्यम्** ।१।३।३।। यहां '१' से तात्पर्य प्रथमाध्याय, '३' से तात्पर्य तृतीयपाद और अन्तिम '३' से तात्पर्य तीसरे सूत्र से है। तो इस प्रकार यह सूत्र प्रथमाध्याय के तृतीय पाद का तीसरा है ऐसा ज्ञात होता है। एवम् आगे भी सर्वत्र समझ लेना। पाणिनि के सूत्रपाठ के अर्थ करने का विचित्र ढंग है। कई पदों का सूत्रों में नामोनिशान नहीं होता, परन्तु अर्थ करते समय वे आ जाया करते हैं। अतः सूत्रों के अर्थ करने के ढंग पर कुछ थोड़ा विचार करते हैं।

(१) सब से प्रथम सूत्रों का पदच्छेद करना चाहिये। जैसे— **हलन्त्यम्** ।१।३।३।। हल्। अन्त्यम्। **आदिरन्त्येन सहेता** ।१।१।७०।। आदिः। अन्त्येन। सह। इता। **इको यणचि** ।६।१।७६।। इकः। यण्। अचि। **अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः।** ।१।१।६८।। अण्। उदित्। सवर्णस्य। च। अप्रत्ययः। कई स्थानों पर पिछले सूत्रों से तथा कहीं २ अग्रिम सूत्रों से भी[1] पद ले लिये जाते हैं। महामुनि पाणिनि ने यद्यपि इन की स्वरित के चिह्न से व्यवस्था की थी; परन्तु अब वह व्यवस्था बिगड़ गई है। अब तो गुरुपरम्परा से जो जो पद पीछे से या आगे से लिया जाता है लिया जाना चाहिये। इस में अपनी ओर से कोई गड़बड़ नहीं करनी चाहिये। यथा— **हलन्त्यम्** यहां पिछले **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** सूत्र से 'उपदेशे' और 'इत्' ये दो पद आते हैं। इन पदों को भी पदच्छेद में लिखना चाहिये और कोष्ठ में बता देना चाहिये कि ये पद कहां से आते हैं[2]। यथा—उपदेशे (**उपदेशेऽजनुनासिक इत्** सूत्र से)। हल्। अन्त्यम्। इत् (**उपदेशेऽजनुनासिक इत्** सूत्र से)।

(२) पदच्छेद के बाद उन पदों की विभक्तियां जाननी चाहियें। यथा— **हलन्त्यम्**। उपदेशे ।७।१। अन्त्यम् ।१।१। हल् ।१।१। इत् ।१।१। (यहां पहले अङ्क से विभक्ति तथा दूसरे अङ्क से वचन समझना चाहिये)। **आदिरन्त्येन सहेता**। आदिः ।१।१। अन्त्येन ।३।१। सह इत्यव्ययपदम्। इता ।३।१। **इको यणचि**। इकः ।६।१। यण् ।१।१। अचि ।७।१। **अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः**। अण् ।१।१। उदित् ।१।१। सवर्णस्य

---

१. यथा **ईशः से** (७.२.७७) सूत्र में अगले सूत्र से 'ध्वे' पद लाया जाता है।

२. इस अनुवृत्ति का व्यवहार लोक में भी देखा जाता है, जैसे किसी ने कहा 'भरत को चार आम दो' 'राम को तीन'। अब यहां 'राम को तीन' यह वाक्य अपूर्ण है, इस की पूर्णता 'आम दो' इतने पद मिलाकर 'राम को तीन आम दो' इस प्रकार हो जाती है, तो यहां 'आम दो' इन दो पदों की अनुवृत्ति समझनी चाहिये। इस प्रकार इस का लोक में सर्वत्र अतीव प्रयोग देखा जाता है।

।६।१। च इत्यव्ययपदम् । अप्रत्ययः ।१।१। स्मरण रहे कि कई स्थानों पर विभक्ति का लुक् तथा अन्य विभक्ति के स्थान पर अन्य विभक्ति भी लगी रहती है। इसे सूत्रकार की ग़लती नहीं समझी जाती क्योंकि **छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति** अर्थात् सूत्र वेद की नाईं होते हैं। जैसे वेद में विभक्ति का लुक् तथा अन्य विभक्ति के स्थान पर अन्य विभक्ति लगी रहती है, वैसे सूत्रों में भी होता है। विभक्ति का लुक् यथा—**न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) यहां 'न' और 'प्रातिपदिक' शब्दों से परे षष्ठी-विभक्ति का लुक् हुआ है। अन्य विभक्ति के स्थान पर अन्य विभक्ति लगे रहने के उदाहरण आगे यत्र तत्र बहुत आएंगे।

(३) पदच्छेद और विभक्ति जानने के पश्चात् समास जानना चाहिये। समास कहीं होता है और कहीं नहीं भी होता। यथा—**तस्य लोपः** (३) इस सूत्र में कोई समास नहीं। **तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्** (१०) इत्यादि सूत्रों में समास है। आवश्यक तद्धितादि का समावेश भी हम ने समास में कर दिया है। अर्थात् समास के जानने के साथ २ आवश्यक तद्धित आदि प्रत्यय भी जान लेने चाहियें।

(४) इतना जान लेने के पश्चात् महामुनि पाणिनि के अर्थ करने के नियमों का ध्यान रख कर सूत्र का अर्थ करना चाहिये। वे नियम प्रायः ये हैं—

(१) **षष्ठी स्थानेयोगा** (१.१.४८)
(२) **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** (१.१.६५)
(३) **तस्मादित्युत्तरस्य** (१.१.६६)
(४) **अलोऽन्त्यस्य** (१.१.५१)
(५) **आदेः परस्य** (१.१.५३)
(६) **इको गुणवृद्धी** (१.१.३)
(७) **अचश्च** (१.२.२८)
(८) **येन विधिस्तदन्तस्य** (१.१.७१)
(९) **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** (वा०)
(१०) **प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्** (प०)

इन सब को हम यथास्थान स्पष्ट करेंगे।

पीछे 'एषामन्त्या इतः' कह कर ण् क् आदियों को 'इत्' कह आये हैं। अब वह सूत्रों से सिद्ध करते हैं। **हलन्त्यम्**। उपदेशे ।७।१। (**उपदेशेऽजनुनासिक इत्** सूत्र से)। हल् ।१।१। अन्त्यम् ।१।१। इत् ।१।१। (**उपदेशेऽजनुनासिक इत्** सूत्र से)। **अर्थः**—(उपदेशे) उपदेश में विद्यमान (अन्त्यम्) अन्तिम (हल्) हल्=व्यञ्जन (इत्) इत्सञ्ज्ञक होता है। यदि उपदेश में कहीं हमें अन्त्य हल् मिलेगा तो वह इत्सञ्ज्ञक होगा। अब प्रश्न यह पैदा होता है कि उपदेश क्या है? इसका उत्तर ग्रन्थकार यह देते हैं कि **उपदेश आद्योच्चारणम्** आद्योच्चारण उपदेश होता है। इस शब्द पर शेखरादि व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में बहुत विवाद है। हम उस विवाद के निकट नही जाते, क्योंकि वह प्रपञ्च बालकों की समझ में नहीं आ सकता। यहां सरल मार्ग यह है कि यहां षष्ठीतत्पुरुषसमास है—आद्यानाम् उच्चारणम् आद्योच्चारणम्। जो आद्यों अर्थात् शिव, पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि का उच्चारण

है, उसे 'उपदेश' कहते हैं। भाष्यकार ने सब स्थल नियत कर दिये हैं; उन का कथन है कि प्रत्याहार-सूत्र, धातुपाठ, गणपाठ, प्रत्यय, आगम और आदेश ये सब उपदेश हैं[1]। इन में अन्त्य हल् इत्संज्ञक होता है।

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(२) अदर्शनं लोपः ।१।१।५९॥

प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञं स्यात् ॥

अर्थः—विद्यमान का अदर्शन लोपसंज्ञक होता है।

व्याख्या—स्थानस्य ।६।१। (**स्थानेऽन्तरतमः** सूत्र से 'स्थाने' पद आकर विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त हो जाता है)। अदर्शनम् ।१।१। लोपः ।१।१। अर्थः—(स्थानस्य) विद्यमान का (अदर्शनम्) न सुनाई देना (लोपः) लोप होता है। यहां अदर्शन संज्ञी तथा लोप संज्ञा है। हम ने 'अदर्शन' का अर्थ 'न सुनाई देना' किया है। इस का यह कारण है कि यह 'शब्दानुशासन' अर्थात् शब्द-शास्त्र है। इस में शब्दों के साधु (ठीक) असाधु (ग़लत) होने का विवेचन है। शब्द कान से सुने जाते हैं, आंख से देखे नहीं जाते अतः यहां पर 'अदर्शन' का अर्थ 'न दिखाई देना' की अपेक्षा 'न सुनाई देना' ही युक्त है। ऐसा अर्थ करने पर 'दृश्' धातु को ज्ञानार्थक मानना चाहिये। ज्ञान—आंख, कान, नाक आदि सब से हो सकता है। 'शब्दानुशासन' का अधिकार होने से हम यहां ज्ञान कान-विषयक ही मानेंगे। यहां **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) से स्थान शब्द लाने का तात्पर्य यह है कि विद्यमान का अदर्शन ही लोपसंज्ञक हो, अविद्यमान का अदर्शन लोपसंज्ञक न हो। यथा—'दधि, मधु' यहाँ 'क्विँप्' प्रत्यय कभी नहीं हुआ अतः उस का अदर्शन है। यदि पीछे से स्थान शब्द न लावें तो यहां क्विँप् प्रत्यय का अदर्शन होने से प्रत्ययलक्षण द्वारा **ह्रस्वस्य पिति कृति तुंक्** (७७७) से तुंक् प्राप्त होगा जो कि अनिष्ट है; अतः 'स्थान' शब्द की अनुवृत्ति लाकर विद्यमान के अदर्शन की ही लोपसंज्ञा करनी युक्त है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३) तस्य लोपः ।१।३।९॥

तस्येतो लोपः स्यात्। णादयोऽणाद्यर्थाः ॥

अर्थः—उस इत्सञ्ज्ञक का लोप होता है। ण् आदि 'अण्' आदियों के लिये हैं।

---

१. प्रत्याहारसूत्र यथा—**अइउण्** आदि। धातुपाठ यथा—**डुपचँष् पाके** आदि। गणपाठ यथा—**नडट्, देवट्** आदि। प्रत्यय यथा—**तृच्, तृन्, तसिल्** आदि। आगम यथा—**कुँक्, टुँक्, इट्** आदि। आदेश यथा—**अर्वणस्त्रसावनञः** (२९२) द्वारा 'तृ' आदेश आदि।

प्रत्ययाः शिवसूत्राणि, आदेशा आगमास्तथा।
धातुपाठो गणे पाठः, उपदेशाः प्रकीर्त्तिताः ॥

व्याख्या—तस्य ।६।१। इतः ।६।१। (**उपदेशेऽजनुनासिक इत्** सूत्र से प्रथमान्त 'इत्' पद आकर विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त हो जाता है) । लोपः ।१।१। **अर्थः**-(तस्य) उस (इतः) इत्सञ्ज्ञक का (लोपः) लोप होता है । अब यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि यदि इस सूत्र में 'तस्य' पद न लेते तो भी अर्थ में कोई हानि नहीं हो सकती थी, क्योंकि 'इतः' पद की अनुवृत्ति तो आ ही रही थी । इस का समाधान यह है कि यदि 'तस्य' पद ग्रहण न करते तो इत्सञ्ज्ञक के अन्त्य वर्ण का लोप होता, सम्पूर्ण इत्सञ्ज्ञक का लोप न होता । तथाहि—**ञिमिदाँ स्नेहने, टुनदिँ समृद्धौ, डुकृञ् करणे** यहाँ **आदिर्ञिटुडवः** (४६२) सूत्र द्वारा ञि, टु, डु, की इत्सञ्ज्ञा हो कर लोप प्राप्त होने पर **अलोऽन्त्यस्य** (२१) सूत्र द्वारा अन्त्य इकार, उकार का लोप प्रसक्त होता है जो कि अनिष्ट है । अब यदि सूत्र में **तस्य** पद ग्रहण करते हैं तो यह दोष नहीं आता क्योंकि आचार्य का **'तस्य'** यह कहना बतलाता है कि आचार्य सारे इत् का लोप चाहते हैं केवल अन्त्य का नहीं ।

अब इस सूत्र से ण्, क्, ङ्, च् आदि इतों का लोप प्राप्त होता है । इस पर कहते हैं कि इन का लोप नहीं करना, क्योंकि इन से अण् आदि प्रत्याहार बनाये जायेंगे । यदि इन का लोप करना होता तो इन का ग्रहण किस लिये करते ? अतः इन का लोप नहीं करना चाहिये ।

अब इत्सञ्ज्ञकों से प्रत्याहार बनाने के लिए अग्रिमसूत्र लिखते हैं :—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(४) आदिरन्त्येन सहेता ।१।१।७०।।

अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च सञ्ज्ञा स्यात् । यथाण् इति 'अ इ उ' वर्णानां सञ्ज्ञा । एवमक्, अच्, हल्, अल् इत्यादयः ।।

अर्थः—अन्त्य इत् से युक्त आदिवर्ण, मध्यगत वर्णों की तथा अपनी सञ्ज्ञा हो । **यथाण्**— जैसे **अण्** यह अ इ उ वर्णों की सञ्ज्ञा है । इसी प्रकार अक्, अच्, हल्, अल् आदि भी जान लेने चाहियें ।

व्याख्या— आदिः ।१।१। अन्त्येन ।३।१। सह इत्यव्ययपदम् । इता ।३।१। स्वस्य ।६।१। (**स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसञ्ज्ञा** से 'स्वम्' यह प्रथमान्त पद आकर विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त हो जाता है) । यह सूत्र सञ्ज्ञाधिकार के बीच पढ़ा जाने से सञ्ज्ञासूत्र है । यहां 'अन्त्येनेता सहादिः' अर्थात् 'अन्त्य इत् से युक्त आदि' यह सञ्ज्ञा है । अब सञ्ज्ञी का निर्णय करना है कि सञ्ज्ञी कौन हो ? क्योंकि सूत्र में तो किसी का निर्देश है ही नहीं । आदि और अन्त्य अवयव शब्द हैं । अवयवों से अवयवी लाया जाता है । अतः यहां अवयवी ही सञ्ज्ञी होगा । उस अवयवी (समुदाय) से आदि और अन्त्य सञ्ज्ञा होने के कारण निकल जायेंगे । शेष मध्यगत वर्ण ही सञ्ज्ञी ठहरेंगे । पुनः 'स्वस्य' पद की अनुवृत्ति आकर आदि भी सञ्ज्ञी हो जायेगा । इस प्रकार आदि तथा मध्यगत वर्ण सञ्ज्ञी बनेंगे । तो अब इस सूत्र का अर्थ यह हुआ —

अर्थः—(अन्त्येन) अन्त्य (इता) इत् से (सह) युक्त (आदिः) आदि वर्ण (स्वस्य) अपनी तथा मध्यगत वर्णों की सञ्ज्ञा होता है। यहां हमने 'स्वस्य' पद से आदि का ग्रहण किया है; पर कोई पूछ सकता है कि 'स्वस्य' पद से अन्त्य का ग्रहण कर 'अन्त्य इत् से युक्त आदि अन्त्य तथा मध्यगत वर्णों की सञ्ज्ञा हो' ऐसा अर्थ क्यों न किया जाये ? इसका उत्तर यह है कि 'स्व' यह सर्वनाम है। सर्वनाम प्रधान का ही निर्देश कराने वाले होते हैं, अप्रधान का नहीं। 'अन्त्येनेता सहादिः' यहां प्रधान आदि है, अन्त्य नहीं। क्योंकि **सहयुक्तेऽप्रधाने** (२.३.१९) से अप्रधान में ही तृतीया होती है, अतः 'स्व' यह सर्वनाम प्रधान=आदि का ही ग्रहण करायेगा, अप्रधान अन्त्य का नहीं।

अ इ उ ण् यहां अन्त्य इत्=ण् है। आदि 'अ' है। अतः अन्त्य इत् से युक्त आदि 'अण्' हुआ। यह सञ्ज्ञा है। 'इ उ' मध्यगत तथा 'अ' आदि ये तीन सञ्ज्ञी हैं। इसी प्रकार अच्, अक्, हल्, अल् आदि भी जानने चाहियें। इन अण् आदि सञ्ज्ञाओं को पूर्ववर्त्ती आचार्य 'प्रत्याहार' कहते चले आ रहे हैं। यहां इस शास्त्र में भी इन के लिये प्रत्याहार शब्द व्यवहृत होता है। प्रत्याह्रियन्ते=संक्षिप्यन्ते वर्णा अत्रेति प्रत्याहारः।

यहां अन्त्य और आदि **अ इ उ ण्** आदि सूत्रों की अपेक्षा से नहीं लेने, किन्तु मन में रखे समुदाय की अपेक्षा से लेने हैं। यथा—**इ उ ण् ऋ लृ क्** इस समुदाय का आदि 'इ' और अन्त्य 'क्' है। अन्त्य युक्त आदि=इक् सञ्ज्ञा होगा। इ उ ऋ लृ— ये संज्ञी होंगे। 'रट्लँ' यहां **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) से लकारस्थ अकार इत् है। समुदाय का आदि 'र्' है। अन्त्य अँ है। अन्त्य युक्त आदि र्+अँ='रँ' यह सञ्ज्ञा होगा। इस संज्ञा के 'र्' और 'ल्' दो ही सञ्ज्ञी हैं।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अण् आदि प्रत्याहारों में आदि और मध्यगत वर्ण सञ्ज्ञी होते हैं तो इक् प्रत्याहार में 'क्' भले ही न आये, पर ण् तो आना चाहिये; क्योंकि वह मध्यगत वर्ण है। इस का उत्तर यह है कि आचार्य पाणिनि की शैली से यह प्रतीत होता है कि मध्यगत वर्ण यदि इत्सञ्ज्ञक होंगे तो उन का प्रत्याहारों के सञ्ज्ञियों में ग्रहण न होगा; तथाहि—यदि वे सञ्ज्ञी होते तो 'अच्' प्रत्याहार में 'क्' का भी ग्रहण होता क्योंकि यह मध्यवर्ण है। 'क्' के ग्रहण होने से **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) इस सूत्र के 'अनुनासिकः' इस पद में 'क्' इस अच् के परे होने पर सकारस्थ इकार को **इको यणचि** (१५) से यण् तथा यण् का **लोपो व्योर्वलि** (४२९) से लोप होकर 'अनुनास्कः' हुआ होता; पर आचार्य पाणिनि ने ऐसा नहीं किया। इस से यह विदित होता हैं कि इत्सञ्ज्ञक मध्यवर्त्ती होने पर भी सञ्ज्ञी नहीं होते।

अ इ उ ण् आदि चौदह सूत्रों से यद्यपि अनेक प्रत्याहार बन सकते हैं तथापि इस व्याकरणशास्त्र में जिन का व्यवहार किया गया है उन की सङ्ख्या चवालीस

(४४) है। कई लोग 'रँ' प्रत्याहार को नहीं मानते उन के मत में तेंतालीस (४३) प्रत्याहार होते हैं। इन में से बयालीस ('रँ' प्रत्याहार न मानने वालों के मत में इक्तालीस ४१) प्रत्याहार तो मुनिवर पाणिनि ने स्वयं सूत्रों में व्यवहृत किये हैं। शेष दो में से एक 'ञम्' उणादि सूत्रों का तथा दूसरा 'चय्' वार्त्तिकपाठ का है। हम इन प्रत्याहारों के लिखने से पूर्व यह बता देना आवश्यक समझते हैं कि प्रत्याहारगत वर्णों के जानने का सुगम उपाय क्या है ? प्रत्याहारगत वर्णों के जानने का सुगम उपाय यह है कि निम्नलिखित बातों को अच्छी तरह से बुद्धि में बिठा लिया जाये—

(क) वर्गों के पाञ्चवें वर्ण **ञमङणनम्** सूत्र में हैं।

(ख) वर्गों के चौथे वर्ण **झभञ्, घढधष्** सूत्रों में हैं।

(ग) वर्गों के तीसरे वर्ण **जबगडदश्** सूत्र में हैं।

(घ) वर्गों के दूसरे वर्ण **खफछठथ** तक हैं।

(ङ) वर्गों के प्रथम वर्ण **चटतव्, कपय्** सूत्रों में हैं।

(च) ऊष्मवर्ण **शषसर्, हल्** सूत्रों में हैं।

(छ) अन्तःस्थवर्ण **यवरट्, लँण्** सूत्रों में हैं।

(ज) स्वरवर्ण **अइउण्, ऋलृक्, एओङ्, ऐऔच्** सूत्रों में हैं।

इस के अतिरिक्त जिन सूत्रों के बीच से कटाव हो कर प्रत्याहार बनते हैं उन सूत्रों के स्थान भी याद रखने योग्य हैं। वे स्थान निम्नलिखित हैं—

अइउण्। यहाँ 'इ' से कटाव होकर इक्, इच् तथा 'उ' से कटाव हो कर उक् प्रत्याहार बनता है।

हयवरट्। यहां 'य' से कटाव हो कर यण्, यञ्, यम्, यय्, यर् प्रत्याहार 'व' से कटाव होकर वल् प्रत्याहार तथा 'र्' से कटाव हो कर रँ प्रत्याहार बनता है।

ञमङणनम्। यहां 'म' से कटाव होकर मय् तथा 'ङ' से कटाव होकर ङम् प्रत्याहार बनता है।

झभञ्। यहां 'भ' से कटाव होकर भष् प्रत्याहार बनता है।

जबगडदश्। यहां 'ब' से कटाव होकर बश् प्रत्याहार बनता है।

खफछठथचटतव्। यहां 'छ' से कटाव हो कर छव् तथा 'च' से कटाव हो कर चय् प्रत्याहार बनता है।

इस व्याकरण में प्रयुक्त होने वाले प्रत्याहारों का दो श्लोकों में संग्रह यथा—

ङणटञ्वात् स्मृतो ह्येकः, चत्वारश्च चमान्मताः।
शलाभ्यां षड् यरात्पञ्च, षाद् द्वौ च कणतस्त्रयः ॥१॥
केषाञ्चिच्च मते रोऽपि, प्रत्याहारोऽपरो मतः।
लस्याऽवर्णेन वाञ्छन्त्यनुनासिकबलादिह ॥२॥

प्रत्याहार	सञ्ज्ञी वर्ण	उदाहरण-सूत्र
(१) अण्	अ, इ, उ	उरण्रपरः (२९)
(२) अक्	अ, इ, उ, ऋ, लृ	अकः सवर्णे दीर्घः (४२)
(३) इक्	इ, उ, ऋ, लृ	इको यणचि (१५)
(४) उक्	उ, ऋ, लृ	उगितश्च (१२५०)
(५) एङ्	ए, ओ	एङः पदान्तादति (४३)
(६) अच्	सम्पूर्ण स्वर	इको यण् अचि (१५)
(७) इच्	अ को छोड़ कर सब स्वर	नाद् इचि (१२७)
(८) एच्	ए, ओ, ऐ, औ,	एचोऽयवायावः (२२)
(९) ऐच्	ऐ, औ	वृद्धिराद् ऐच् (३२)
(१०) अट्	स्वर; ह्, य्, व्, र्	अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (१३८)
(११) अण्	स्वर; ह्; अन्तःस्थ	अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः (११)
(१२) इण्	अ को छोड़ स्वर; ह्; अन्तःस्थ	इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात् (५१४)
(१३) यण्	अन्तःस्थ	इको यण् अचि (१५)
(१४) अम्	स्वर; ह्; अन्तःस्थ; वर्ग-पञ्चम	पुमः खयि+अम्परे (९४)
(१५) यम्	अन्तःस्थ; वर्गपञ्चम	हलो यमां यमि लोपः (१०००)
(१६) ञम्	वर्गपञ्चम	ञमन्ताड्डः (उणा० १११)
(१७) ङम्	ङ्, ण्, न्	ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् (८९)
(१८) यञ्	अन्तःस्थ; वर्गपञ्चम; झ्, भ्	अतो दीर्घो यञि (३९०)
(१९) झष्	वर्ग-चतुर्थ	एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः (२५३)
(२०) भष्	झ् को छोड़ वर्ग-चतुर्थ	एकाचो बशो भष्० (२५३)
(२१) अश्	स्वर; ह्; अन्तःस्थ; वर्गों के पञ्चम-चतुर्थ-तृतीय	भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि (१०८)
(२२) हश्	ह्; अन्तःस्थ; वर्गों के पञ्चम-चतुर्थ-तृतीय	हशि च (१०७)
(२३) वश्	व्, र्, ल्; वर्गों के ५, ४, ३	नेड्वशि कृति (८००)
(२४) जश्	वर्ग-तृतीय	झलां जशोऽन्ते (६७)
(२५) झश्	वर्गों के चतुर्थ तथा तृतीय	झलां जश् झशि (१९)

(२६) बश्	ब्, ग्, ड्, द्	एकाचो बशो भष्० (२५३)
(२७) छव्	छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्	नश्छवि+अप्रशान् (६५)
(२८) यय्	अन्तःस्थ, सब वर्ग	अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (७६)
(२६) मय्	ञ् को छोड़ कर सब वर्ग	मय उञो वो वा (५८)
(३०) झय्	वर्गों के ४र्थ, ३य, २य, प्रथम	झयो होऽन्यतरस्याम् (७५)
(३१) खय्	वर्गों के प्रथम तथा द्वितीय	पुमः खयि+अम्परे (६४)
(३२) चय्	वर्गों के प्रथम वर्ण	चयो द्वितीयाः शरि पौष्कर-सादेरिति वाच्यम् (वा० १४)
(३३) यर्	अन्तःस्थ; वर्ग, श्, ष्, स्	यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा (६८)
(३४) झर्	वर्गों के ४, ३, २, १; श्, ष्, स्	झरो झरि सवर्णे (७३)
(३५) खर्	वर्गों के १, २; श् ष्, स्	खरि च (७४)
(३६) चर्	वर्गों के १; श्, ष्, स्	अभ्यासे चर् च (३६६)
(३७) शर्	श्, ष्, स्	ङ्णोः कुँक्टुँक् शरि (८६)
(३८) अल्	सब स्वर; सब व्यञ्जन	अलोऽन्त्यस्य (२१)
(३६) हल्	सब व्यञ्जन	हलोऽनन्तराः संयोगः (१३)
(४०) वल्	य् को छोड़ सब व्यञ्जन	लोपो व्योर्वलि (४२६)
(४१) रल्	य्, व् छोड़ सब व्यञ्जन	रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च (८८१)
(४२) झल्	वर्गों के ४, ३, २, १; ऊष्म	झलो झलि (४७८)
(४३) शल्	ऊष्म वर्ण	शल इगुपधादनिटः क्सः (५६०)
(४४) रँ	र्, ल्	उरण् रँ-परः (२६)

अब व्याकरण-शास्त्र में महोपकारक वक्ष्यमाण सवर्णसंज्ञा और सवर्णग्राहक के उपयोगी अच् के अठारह भेद सिद्ध करते हैं —

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(५) ऊकालोऽज्झ्रस्व-दीर्घ-प्लुतः ।१।२।२७॥

उश्च ऊश्च ऊ३श्च=वः। वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमाद् ध्रस्व-दीर्घ-प्लुतसंज्ञः स्यात् । स प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन त्रिधा ॥

अर्थः—एकमात्रिक, द्विमात्रिक तथा त्रिमात्रिक उकार के उच्चारणकाल के सदृश जिस अच् का उच्चारणकाल हो, वह अच् क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत संज्ञक होता है। उस अच् के तीनों भेदों में हर एक के पुनः उदात्त आदि तीन २ भेद होते हैं।

व्याख्या—ऊकालः।१।१। अच्।१।१। ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतः।१।१।

समासः—उश्च ऊश्च ऊ३श्च =वः । इतरेतरद्वन्द्वः । वः कालो यस्य सः =ऊकालः । बहुव्रीहि-समासः । (एकमात्रिक उकार, द्विमात्रिक उकार तथा त्रिमात्रिक उकार का द्वन्द्व करने से 'जस्' विभक्ति में 'वः' रूप निष्पन्न होता है । यहां सब उकार लक्षणा-शक्ति से अपने २ उच्चारणकाल के सदृश अर्थ वाले हैं)। ह्रस्वश्च दीर्घश्च प्लुतश्च = ह्रस्वदीर्घप्लुतः । इतरेतरद्वन्द्वः । (यहां इतरेतरद्वन्द्व होने से यद्यपि बहुवचन होना चाहिये था तथापि सौत्र होने के कारण एकवचन हो गया है) । अर्थः —(ऊकाल.) एकमात्रिक उकार के सदृश उच्चारणकाल वाला, द्विमात्रिक उकार के सदृश उच्चारण-काल वाला तथा त्रिमात्रिक उकार के सदृश उच्चारणकाल वाला (अच्) अच्, क्रमशः (ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतः) ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत सञ्ज्ञक होता है । भाव—यदि एकमात्रिक[1] उकार के उच्चारणकाल के समान किसी अच् का उच्चारण-काल होगा तो वह ह्रस्व, यदि द्विमात्रिक उकार के उच्चारण-काल के समान किसी अच् का उच्चारण-काल होगा तो वह दीर्घ और यदि त्रिमात्रिक उकार के उच्चारणकाल के समान किसी अच् का उच्चारण-काल होगा तो वह प्लुत सञ्ज्ञक होगा ।

कुक्कुट के 'कु कू कू३' शब्द में क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत उकार का उच्चारण स्पष्ट प्रतीत होता है अतः यहां दृष्टान्त के लिये उकार को उपयुक्त समझा गया है वरन् 'आकालः' आदि भी कहा जा सकता था ।

इस प्रकार अचों के ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत ये तीन २ भेद हो जाते हैं (ध्यान रहे कि यहां सामान्यतः कथन किया गया है, सब अचों के तीन तीन भेद नहीं होते; पर हां यह तीनों भेद अचों के ही होते हैं अन्य वर्णों के नहीं) । अब अग्रिम तीन सूत्रों से प्रत्येक के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीन २ भेद कहे जाते हैं—

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(६) उच्चैरुदात्तः ।१।२।२९।।

(ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागे निष्पन्नोऽजुदात्तसंज्ञः स्यात् ।।)

संज्ञा-सूत्रम्—(७) नीचैरनुदात्तः ।१।२।३०।।

(ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेष्वधोभागे निष्पन्नोऽजनुदात्तसंज्ञः स्यात् ।।)

अर्थः—भागों वाले तालु आदि स्थानों में जो अच् उपरले भाग में बोला जाय वह उदात्त होता है ।।६।।

---

१. कई लोग—जितनी देर में आंख झपकती है उसे 'मात्रा' कहते हैं । कुछ लोग—जितनी देर में बिजली चमकती है उसे 'मात्रा' कहते हैं । अन्य लोग—जितनी देर में झरोखे के बीच कण दिखाई देता है उसे 'मात्रा' कहते हैं । इतर लोग—चाष=नीलकण्ठ पक्षी जितनी देर में बोलता है उसे 'मात्रा' मानते हैं । ये सब प्राचीन शिक्षाकार आचार्यों के मत हैं । परन्तु आजकल एक सैकेण्ड के समय को मात्रा-समय मानना सरल प्रतीत होता है । ह्रस्व के बोलने में एक सैकेण्ड,

भागों वाले तालु आदि स्थानों में जो अच् निचले भाग में बोला जाय वह अनुदात्त होता है ॥७॥

व्याख्या—उच्चैः इत्यव्ययपदम् । उदात्तः ।१।१। अच् ।१।१। (**ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः** सूत्र से) ॥६॥ नीचैः इत्यव्ययपदम् । अनुदात्तः ।१।१। अच् ।१।१। (**ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः** सूत्र से) ॥७॥ 'उच्चैस्' शब्द का अर्थ ऊँचा तथा 'नीचैस्' शब्द का अर्थ नीचा है। भाष्य के प्रमाणानुसार वर्णों का अपने २ स्थानों में ही ऊँचा या नीचापन समझना चाहिये। यदि स्थान अखण्ड हों अर्थात् उन के भाग न हो सकते हों तो ऊँचापन या नीचापन नहीं बन सकता। अतः स्थानों के दो भाग मानने पड़ेंगे एक ऊँचा भाग दूसरा नीचा भाग। वृत्ति में इसीलिये 'सभाग' शब्द लिखा गया है; अर्थः—(उच्चैः) अपने स्थान के ऊपर वाले भाग में उच्चार्यमाण (अच्) अच् (उदात्तः) उदात्तसंज्ञक होता है ॥६॥ (नीचैः) अपने स्थान के नीचे वाले भाग में उच्चार्यमाण (अच्) अच् (अनुदात्त) अनुदात्तसंज्ञक होता है ॥७॥ यथा अकार का 'कण्ठ' स्थान है। यदि अकार कण्ठ में उपरले भाग से बोला जायेगा तो उदात्त और यदि निचले भागमें बोला जायेगा तो अनुदात्त संज्ञक होगा। एवम् आगे इकार आदियों के विषय में भी जान लेना चाहिये।

कुछ लोग 'जो ऊँची स्वर से बोला जाय वह उदात्त होता है' ऐसा अनर्थ किया करते हैं। उनके अनर्गल—प्रलाप से सावधान रहना चाहिये; क्योंकि तब मानसिक जप में उदात्तत्व आदि न माना जा सकेगा, पर यह अनिष्ट है।

नोटः—इन सूत्रों की तथा अगले सूत्र की वृत्ति 'लघुकौमुदी' में नहीं दी गई। हम ने सुगमता के लिये 'सिद्धान्तकौमुदी' से ले कर कोष्ठ में दे दी है।

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(८) समाहारः स्वरितः ।१।२।३१॥

(उदात्तानुदात्तत्वे वर्णधर्मौ समाह्रियेते यस्मिन् सोऽच् स्वरितसंज्ञः स्यात्)। स नवविधोऽपि प्रत्येकमनुनासिकाननुनासिकत्वाभ्यां द्विधा॥

अर्थः—उदात्त और अनुदात्त वर्णो के धर्म जो उदात्तत्व और अनुदात्तत्व ये दोनों जिस अच् में विद्यमान हों वह अच् 'स्वरित' संज्ञक होता है। **स नवविधोऽपि**—इस तरह नौ प्रकार का वह अच् पुनः अनुनासिक तथा अननुनासिकधर्मों के कारण दो प्रकार का हो जाता है।

व्याख्या—उदात्तस्य ।६।१। अनुदात्तस्य ।६।१। (**उच्चैरुदात्तः** से 'उदात्तः' तथा **नीचैरनुदात्तः** से 'अनुदात्तः' पद का अनुवर्त्तन होता है। इन दोनों का यहां षष्ठी-विभक्ति में विपरिणाम हो जाता है। ये दोनों पद भाष्य के प्रमाणानुसार धर्मप्रधान हैं, अर्थात् इन का अर्थ उदात्तत्व और अनुदात्तत्व) है। समाहारः ।१।१। [समाहरणम् —समाहारः, भावे घञ्। समाहारोऽस्त्यस्मिन्निति समाहारः, **अर्शआदिभ्योऽच्**

दीर्घ के बोलने में दो सैकेण्ड तथा प्लुत के बोलने में तीन सैकेण्ड का समय लगाना चाहिये।

(११६५) इति मत्वर्थीयोऽच्-प्रत्ययः] । स्वरितः ।१।१। अर्थः—(उदात्तस्य = उदात्तत्वस्य) उदात्तपने (अनुदात्तस्य=अनुदात्तत्वस्य) और अनुदात्तपने के (समाहारः) मेल वाला (अच्) अच् (स्वरितः) स्वरितसंज्ञक होता है। पूर्व-सूत्रों में स्थानों के दो भाग कह आये हैं, एक ऊपर वाला भाग और दूसरा नीचे वाला भाग। जो अच् इन दोनों भागों से बोला जाये उसे 'स्वरित' कहते हैं। यथा अकार का 'कण्ठ' स्थान होता है, यदि अकार कण्ठ के उपरले और निचले दोनों भागों से बोला जायेगा तो 'स्वरित' संज्ञक होगा। इसी प्रकार अपने २ स्थानों के दोनों भागों से बोले जाने वाले इकार आदि भी स्वरितसंज्ञक होंगे।

अब इस प्रकार ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत प्रत्येक के उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित तीन २ भेद हो कर प्रत्येक अच् के नौ २ भेद हो जाते हैं (ध्यान रहे कि यह सामान्यतः कथन किया गया है क्योंकि जिन अचों के ह्रस्व या दीर्घ नहीं होते उन के तो छः २ भेद ही होते हैं)। ये नौ भेद निम्नलिखित हैं—

(१) ह्रस्व उदात्त	(४) दीर्घ उदात्त	(७) प्लुत उदात्त
(२) ह्रस्व अनुदात्त	(५) दीर्घ अनुदात्त	(८) प्लुत अनुदात्त
(३) ह्रस्व स्वरित	(६) दीर्घ स्वरित	(९) प्लुत स्वरित

इन नौ भेदों में भी हर एक के पुनः अनुनासिक तथा अननुनासिक धर्मों के कारण दो २ भेद होकर प्रत्येक अच् के अठारह २ भेद हो जाते हैं यह सब अग्रिम सूत्र में प्रतिपादन किया गया है।

कोई समय था जब उदात्त आदि स्वरों का प्रयोग लोक में भी किया जाता था; पर अब इन का प्रचार लोक से सर्वथा नष्ट हो गया है। ये प्रायः वेद में ही प्रयुक्त होते हैं। वेद में इन का सङ्केत चिह्नों द्वारा किया जाता है। उदात्त के लिये कोई चिह्न नहीं होता; अनुदात्त के नीचे पड़ी रेखा तथा स्वरित के ऊपर खड़ी रेखा का चिह्न होता है। यथा—

उदात्त —अ । इ । उ । इत्यादि।

अनुदात्त —अ॒ । इ॒ । उ॒ । इत्यादि।

स्वरित —अ॑ । इ॑ । उ॑ । इत्यादि।

सामवेद आदि में अन्य प्रकार के भी चिह्न होते हैं जो वैदिक ग्रन्थों से जानने चाहियें।

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(९) **मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः ।१।१।८।।**

मुख-सहित-नासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिकसंज्ञः स्यात्[1] । तदित्थम्—अ इ उ ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादश भेदाः । ऌ-वर्णस्य द्वादश, तस्य दीर्घाभावात् । एचामपि द्वादश, तेषां ह्रस्वाभावात् ।।

अर्थः—मुखसहित नासिका से बोला जाने वाला **वर्ण अनुनासिक-संज्ञक** होता है । इस प्रकार—'अ, इ, उ, ऋ' इन वर्णों में प्रत्येक के अठारह २ भेद हो जाते हैं । 'ऌ' वर्ण के—दीर्घ न होने से बारह भेद होते हैं । एचों (ए, ओ, ऐ, औ) के भी —ह्रस्व न होने से बारह २ भेद होते हैं ।

व्याख्या—मुख-नासिका-वचनः ।१।१। अनुनासिकः ।१।१। समासः—मुखेन सहिता मुख-सहिता, तृतीया-तत्पुरुष-समासः, मुख-सहिता नासिका मुखनासिका, **शाकपार्थिवादीनां सिद्धय उत्तरपदलोपस्योपसङ्ख्यानम्** इति वार्तिकेन समासः । उच्यत इति वचनः (वर्ण इत्यर्थः), कर्मणि ल्युट् । मुखनासिकया वचनः=मुखनासिकावचनः । तृतीया-तत्पुरुष-समासः । अर्थः—(मुख-नासिका-वचनः) मुखसहित नासिका से बोला जाने वाला वर्ण (अनुनासिकः) अनुनासिक-संज्ञक होता है ।

भाव यह है कि मुख से तो प्रत्येक वर्ण बोला ही जाता है, पर जो मुख और नासिका दोनों से बोला जाये वह अनुनासिक होता है । यथा ङ्, ञ्, ण्, न्, म् इत्यादि मुख और नासिका दोनों से बोले जाते हैं अतः 'अनुनासिक' संज्ञक हैं । इसी प्रकार यदि अच् मुख और नासिका दोनों से बोला जायेगा तो 'अनुनासिक' होगा और यदि केवल मुख से ही बोला जायेगा तो 'अननुनासिक' (न अनुनासिकः, जो अनुनासिक नहीं) होगा । इस प्रकार पीछे कहे नौ २ भेदों के अनुनासिक और अननुनासिक धर्म के कारण अठारह २ भेद हो जाते हैं ।

अब अचों का सामान्यतः भेद-निरूपण करके पुनः प्रत्येक का विशेषतः भेद-निरूपण करते हैं ।

'अ, इ, उ, ऋ' इन में से प्रत्येक वर्ण के अठारह भेद होते हैं । 'ऌ' वर्ण के बारह भेद होते हैं । इस के दीर्घ न होने से छः भेद कम हो जाते हैं । 'एच्' अर्थात् 'ए, ओ, ऐ, औ' वर्णों के भी बारह २ भेद होते हैं, क्योंकि इन का ह्रस्व नहीं होता । ह्रस्व न होने से छः २ भेद कम हो जाते हैं । यह ध्यान रहे कि 'ए, ऐ' तथा 'ओ, औ' परस्पर ह्रस्व दीर्घ नहीं, किन्तु सब दीर्घ और भिन्न २ जाति वाले हैं । इन सब की तालिका यथा—

---

१. अत्र **मुखसहितया नासिकया** इति व्यास एव न्याय्यः । **समासे तु शाकपार्थिवादित्वात् सहितपदलोपप्राप्तिः ।**

अ, इ, उ, ऋ, ऌ	अ, इ, उ, ऋ, ए, ओ, ऐ, औ	अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ
१ ह्रस्व उदात्त अनुनासिक	७ दीर्घ उदात्त अनुनासिक	१३ प्लुत उदात्त अनुनासिक
२ ,, ,, अननुनासिक	८ ,, ,, अननुनासिक	१४ ,, ,, अननुनासिक
३ ,, अनुदात्त अनुनासिक	९ ,, अनुदात्त अनुनासिक	१५ ,, अनुदात्त अनुनासिक
४ ,, ,, अननुनासिक	१० ,, ,, अननुनासिक	१६ ,, ,, अननुनासिक
५ ,, स्वरित अनुनासिक	११ ,, स्वरित अनुनासिक	१७ ,, स्वरित अनुनासिक
६ ,, ,, अननुनासिक	१२ ,, ,, अननुनासिक	१८ ,, ,, अननुनासिक

प्रकरण का सार—

इस प्रकरण का सार यह है कि सजातीय (एक ही स्थान वाले) अचों में परस्पर तीन प्रकार के भेद होते हैं। १. कालकृत भेद। २. स्थानभागकृत भेद। ३. नासिकाकृत भेद।

ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः (५) सूत्र कालकृत भेद करता है। **उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः, समाहारः स्वरितः** (६, ७, ८) ये सब स्थानभागकृत भेद करते हैं। **मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः** (९) यह सूत्र नासिकाकृत भेद करता है। उदाहरणार्थ अकार के अठारह भेदों की आकृति यथा—

ह्रस्व—अँ, अ; अँ, अ; अँ, अ ॥

दीर्घ—आँ, आ; आँ, आ; आँ, आ ॥

प्लुत—आँ३, आ३; आँ३, आ३; आँ३, आ३ ॥

(१) अँ और अ में केवल नासिकाकृत भेद है क्योंकि पहला अनुनासिक और दूसरा अननुनासिक है। दोनों एकमात्रिक हैं अतः कालकृत भेद नहीं है। दोनों उदात्त होने के कारण स्थान के ऊर्ध्वभाग में निष्पन्न होते हैं अतः स्थानभागकृत भेद भी नहीं है।

(२) अ और अँ में नासिकाकृत तथा स्थानभागकृत दो प्रकार का भेद है। क्योंकि पहला अननुनासिक तथा कण्ठ स्थान के ऊर्ध्वभाग में निष्पन्न होता है; दूसरा अनुनासिक तथा कण्ठ स्थान के अधोभाग में निष्पन्न होता है। इन दोनों में कालकृत भेद नहीं है क्योंकि दोनों एकमात्रिक हैं।

(३) **अ और आँ** में तीनों प्रकार का भेद है। पहला एकमात्रिक तथा दूसरा द्विमात्रिक है अतः कालकृत भेद हुआ; पहला उदात्त होने से ऊर्ध्वभाग में निष्पन्न होने वाला तथा दूसरा अनुदात्त होने से अधोभाग में निष्पन्न होने वाला है अतः स्थान-भागकृत भेद हुआ; पहला अननुनासिक तथा दूसरा अनुनासिक है अतः नासिकाकृत भेद हुआ।

(४) सजातीय अर्थात् एक स्थान वाले अचों में इन तीन भेदों से अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं हो सकता, पर विजातीय अर्थात् भिन्न २ स्थानों वाले अचों में चौथा 'स्थानकृत' भेद भी हुआ करता है। यथा—**अँ और ई॒** में; पहला कण्ठस्थानीय तथा दूसरा तालुस्थानीय है अतः स्थानकृत भेद है।

नोट—विद्यार्थियों को अचों के परस्पर इन चार प्रकार के भेदों का सुचारु रूप से अभ्यास कर लेना चाहिये।

[**लघु॰**] संज्ञा-सूत्रम् —(**१०**) **तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्** ।१।१।९॥

तालवादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद् द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः **सवर्ण-संज्ञं स्यात्** ॥

अर्थः—तालु आदि स्थान तथा आभ्यन्तर-प्रयत्न ये दोनों जिस वर्ण के जिस वर्ण के साथ तुल्य हों वह वर्णजाल (अक्षर-समुदाय) परस्पर सवर्णसंज्ञक होता है।

व्याख्या—तुल्यास्यप्रयत्नम् ।१।१। सवर्णम् ।१।१। समासः—आस्ये (मुखे) भवम् = आस्यम्, **शरीरावयवाच्च** (१०९४) इति भवार्थे यत्प्रत्ययः। **यस्येति च** (२३६) इत्यकारलोपे **हलो यमां यमि लोपः** (१०००) इति यकारलोपः। प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नः, यद्वा प्राक्तनो यत्नः प्रयत्नः, **कुगतिप्रादयः** (९४९) इति प्रादिसमासः। आस्यञ्च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नौ, इतरेतरद्वन्द्वः। तुल्यौ आस्य-प्रयत्नौ यस्य (वर्णजालस्य) तत् = तुल्यास्यप्रयत्नम्, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(तुल्यास्य-प्रयत्नम्) जिस वर्ण समूह का पारस्परिक तालवादिस्थान तथा आभ्यन्तर प्रयत्न तुल्य हो वह (सवर्णम्) परस्पर सवर्ण-संज्ञक होता है।

स्थान कण्ठ से शुरू होते हैं अतः 'तालवादि' की अपेक्षा 'कण्ठादि' कहना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। कई लोग—'तालुन आदिस्तालवादिः (कण्ठः)। तालु आदिर्येषान्तानीमानि तालवादीनि, तालवादिश्च तालवादीनि च तालवादीनि, एकशेषः'। इस प्रकार विग्रह कर के कण्ठ को भी ला घसीटते हैं, परन्तु हमारी सम्मति में सीधा 'कण्ठादि' न कह कर 'तालवादि' कहना द्रविड़-प्राणायाम से कम नहीं।

लोक में आभ्यन्तर तथा बाह्य यत्नों के लिये सामान्यतया 'प्रयत्न' शब्द प्रयुक्त होता है, पर शास्त्र में इन दोनों के लिये 'यत्न' शब्द का ही प्रयोग होता है। इस सूत्र में 'यत्न' शब्द के साथ 'प्र' जुड़ा हुआ है, जो बाह्ययत्न को हटा कर आभ्यन्तर-

यत्न का ही बोध कराता है। तथाहि—'प्राक्तनो यत्नः प्रयत्नः, अथवा प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नः' जो पहला यत्न अथवा उत्कृष्ट यत्न हो उसे 'प्रयत्न' कहते हैं। इस रीति से 'आभ्यन्तर' ही 'प्रयत्न' ठहरता है, क्योंकि वह वर्णोत्पत्ति से पूर्व होता है तथा वर्णोत्पत्ति का कारण होने से उत्कृष्ट है। बाह्ययत्न वर्णोत्पत्ति के पश्चात् होने तथा वर्णोत्पत्ति में कारण न होने से वैसा नहीं है।

यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि जब तक सम्पूर्ण स्थान और सम्पूर्ण प्रयत्न तुल्य न हों तब तक 'सवर्ण' संज्ञा नहीं होती। यथा 'इ' और 'ए' वर्णों का प्रयत्न तुल्य है, तालुस्थान भी तुल्य है, परन्तु 'ए' का 'इ' से कण्ठस्थान अधिक है अतः इन की सवर्णञ्ज्ञा नहीं होती। सवर्णसंज्ञा न होने से 'भवति+एव' इत्यादि में अनिष्ट सवर्ण-दीर्घ की निवृत्ति हो जाती है। यह सब मुनिवर पाणिनि के **यजुष्येकेषाम्** (८.३.१०४) सूत्र में (यजुषि+एकेषाम्) सवर्णदीर्घ न कर के यण् करने से विदित होता है।

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि सम्पूर्ण स्थान+प्रयत्न के साम्य होने से ही सावर्ण्य माना जायेगा तो 'क्' और 'ङ्' की सवर्णसंज्ञा न हो सकेगी, क्योंकि कण्ठस्थान और स्पृष्ट प्रयत्न के तुल्य होने पर भी ङकार का नासिकास्थान अधिक होता है। और यदि इन की सवर्ण-संज्ञा न होगी तो **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** (३०४) सूत्र में ककार ङकार का ग्रहण न करायेगा, इस से 'प्राङ्' आदि प्रयोगों में नकार को ङकार न हो कर अनिष्ट प्रयोग निष्पन्न होंगे। इस का समाधान यह है कि सूत्र में आस्य+प्रयत्न के तुल्य होने का उल्लेख है। 'आस्य' का अर्थ 'मुख में होने वाला स्थान' है। ककार और ङकार का मुख में होने वाला स्थान कण्ठ तुल्य ही है। 'नासिका' तो मुख से बाहर का स्थान है; फिर चाहे वह तुल्य हो या न हो चिन्ता नहीं, सवर्णसंज्ञा हो जाती है। निष्कर्ष यह है कि—

यदि किसी वर्ण के मुखगत कण्ठादि स्थान तथा आभ्यन्तर यत्न अन्य वर्ण से पूरी तरह से तुल्य हों तो वे परस्पर 'सवर्ण' संज्ञक होते हैं।

स्मरण रहे कि 'ए' और 'ऐ' की तथा 'ओ' और 'औ' की सम्पूर्ण स्थान और प्रयत्न के साम्य होने पर भी सवर्णसंज्ञा नहीं होती; इस का कारण यह है कि मुनिवर पाणिनि ने **एओङ्, ऐऔच्** सूत्रों में दोनों का पृथक् २ निर्देश किया है।

[लघु०] वा०—**(१) ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्** ॥

अर्थः—ऋकार और लृकार वर्णों की परस्पर 'सवर्ण' संज्ञा कहनी चाहिये।

व्याख्या—**तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्** (१०) सूत्र के अनुसार ऋकार और लृकार की परस्पर सवर्ण-संज्ञा नहीं हो सकती; क्योंकि ऋकार का स्थान मूर्धा और लृकार का स्थान दन्त है। परन्तु 'तवल्कारः' आदि प्रयोगों के लिये इन की सवर्ण-संज्ञा करना अतीव आवश्यक है। इस त्रुटि की पूर्ति मुनिवर कात्यायन ने उपर्युक्त वार्त्तिक द्वारा कर दी है। अब दोनों का स्थानसाम्य न होने पर भी सवर्णसंज्ञा सिद्ध हो जाती है।

नोट—न हि सर्वः सर्वं जानाति (हर एक पुरुष हर एक बात का ज्ञाता नहीं हुआ करता) इस न्यायानुसार मुनिवर पाणिनि से जो कुछ छूट गया उसकी पूर्त्ति करने तथा मुनिवर पाणिनि के सूत्रपाठ का तात्पर्य समझाने के लिये महामुनि कात्यायन ने **वार्त्तिक-पाठ** का निर्माण किया है। इस **वार्त्तिक-पाठ** की भी त्रुटियों को दूर करने के लिये तथा कात्यायन का आशय स्पष्ट करने के लिये महामुनि पतञ्जलि ने **महाभाष्य** नामक अति-सुन्दर बृहत्काय ग्रन्थ रचा है। यही तीनों मुनि इस व्याकरण के **मुनित्रय** कहलाते हैं और इन के कारण ही इस पाणिनीय-व्याकरण को **त्रिमुनि व्याकरणम्** कहते हैं। इन मुनियों में उत्तरोत्तर मुनि अर्थात् पाणिनि से कात्यायन तथा कात्यायन से पतञ्जलि अधिक प्रामाणिक हैं। इस का कारण यह है कि जगत् में यह नियम है कि सब से पहले पुरुष को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है वैसा उत्तरोत्तर पुरुषों को नहीं, क्योंकि पहले पुरुष की सम्पूर्ण विचारधारा उत्तर-पुरुष को अनायास प्राप्त हो जाती है इस से वह उस से आगे के लिये यत्न किया करता है, अत एव बुद्धिमान् लोग उत्तरोत्तर को अधिक प्रामाणिक माना करते हैं। **उत्तरोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्** यह उक्ति भी इसी आधार पर आश्रित है।

सूचना—इस ग्रन्थ में कात्यायन की वार्त्तिकों के आदि में **वा०** ऐसा चिह्न कर दिया गया है और इन की क्रमसंख्या भी सूत्रक्रम से पृथक् निर्दिष्ट की गई है।

सवर्णसंज्ञा में स्थान और प्रयत्न का उपयोग होने से अब उन का विवेचन किया जाता है—

[लघु०] अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः ॥

अर्थः—अठारह प्रकार के अवर्ण, कवर्ग, हकार तथा विसर्ग का कण्ठ स्थान होता है।

व्याख्या—अकुहविसर्जनीयानाम् ।६।३। कण्ठः ।१।१। समासः—अश्च कुश्च हश्च विसर्जनीयश्च अकुहविसर्जनीयाः, तेषाम्=अकुहविसर्जनीयानाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। यहां 'अ' से लोकप्रसिद्धचनुसार सारे का सारा अवर्णकुल तथा 'कु' से कवर्ग का ग्रहण समझना चाहिये। विसर्जनीय और विसर्ग पर्याय अर्थात् एकार्थवाची शब्द हैं। यहां यह ध्यान रहे कि विसर्ग का कण्ठस्थान तभी होता है जब वह अकाराश्रित अर्थात् अकार से परे होता है; जैसा कि पाणिनि के नाम से प्रचलित **पाणिनीय-शिक्षा** में कहा गया है—

अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः।(श्लोक २२)

अयोगवाहों (यम, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय) का वही स्थान होता है जिस के वे आश्रित होते हैं। यम और अनुस्वार नासिकास्थानीय ही रहते हैं, क्योंकि **शिक्षा** में कहा गया है—

अनुस्वारयमानाञ्च नासिकास्थानमुच्यते।(श्लोक २२)

अर्थात् अनुस्वार और यमों का 'नासिका' स्थान होता है। अब अयोगवाहों में शेष रहे जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और विसर्ग। इन में से जिह्वामूलीय का 'जिह्वामूल' ही स्थान निश्चित है, इसी प्रकार उपध्मानीय भी सदैव पकार या फकार के आश्रित होने से ओष्ठस्थानीय ही रहते हैं। तो अब विसर्ग के सिवाय अयोगवाहों में अन्य कोई अनियतस्थान वाला नहीं रहा। उदाहरण यथा—'कविः' यहां इकाराश्रित होने से विसर्जनीय का तालुस्थान होता है। 'भानुः' यहां उकाराश्रित होने से विसर्जनीय का ओष्ठस्थान है। 'रामयोः' यहां ओकाराश्रित होने से विसर्जनीय का कण्ठ+ओष्ठ स्थान है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जिस २ के आश्रित विसर्ग होगा उस २ का वह २ स्थान विसर्ग का भी होगा।

[लघु०] इचुयशानां तालु ॥

अर्थः—अठारह प्रकार के इवर्ण, चवर्ग, दो प्रकार के यकार तथा शकार का 'तालु' स्थान होता है।

व्याख्या—इचुयशानाम् ।६।३। तालु ।१।१। समासः—इश्च चुश्च यश्च शश्च इचुयशाः, तेषाम्=इचुयशानाम्; इतरेतरद्वन्द्वः। यहां लोकप्रसिद्ध्यनुसार 'इ' से इवर्णकुल, 'चु' से चवर्ग 'य्' से अनुनासिक और अननुनासिक दोनों प्रकार के यकारों का ग्रहण होता है। दान्तों के पीछे जो कठिन मुख की छत है उसे 'तालु' कहते हैं।

[लघु०] ऋ-टु-र-षाणां मूर्धा ॥

अर्थः—अठारह प्रकार के ऋवर्ण, टवर्ग, रेफ तथा षकार का 'मूर्धा' स्थान होता है।

व्याख्या—ऋटुरषाणाम् ।६।३। मूर्धा ।१।१। समासः—आ च टुश्च रश्च षश्च ऋटुरषाः, तेषाम्=ऋटुरषाणाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। 'तालु' स्थान से पीछे मुख की छत का जो कोमल भाग है उसे 'मूर्धा' कहते हैं। आजकल षकार का उच्चारण सम्यग्-रीत्या नहीं हुआ करता अतः इस का विशेष ध्यान रखना चाहिये।

[लघु०] लृ-तु-ल-सानां दन्ताः ॥

अर्थः—बारह प्रकार के लृकार, तवर्ग, दो प्रकार के लकार तथा सकार का 'दन्त' स्थान होता है।

व्याख्या—लृतुलसानाम् ।६।३। दन्ताः ।१।३। समासः—आ च तुश्च लश्च सश्च=लृतुलसाः, तेषाम्=लृतुलसानाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। यहां 'दन्त' से तात्पर्य ऊपर वाले दान्तों के पीछे साथ लगे हुए मांस से है; अत एव भग्न दान्तों वाला पुरुष भी इन वर्णों का उच्चारण कर सकता है।

[लघु०] उ-पूपध्मानीयानामोष्ठौ ॥

अर्थः—अठारह प्रकार के उकार, पवर्ग तथा उपध्मानीय का ओष्ठ (होंठ) स्थान होता है।

व्याख्या—उपूपध्मानीयानाम् ।६।३। **ओष्ठौ** ।१।२। **समासः—उश्च पुश्च** उपध्मानीयश्च उपूपध्मानीयाः, तेषाम्=उपूपध्मानीयानाम् । इतरेतरद्वन्द्वः । अच् से परे तथा पकार फकार से पूर्व '≍' इस प्रकार उपध्मानीय होता है । इस का विवेचन आगे इसी प्रकरण में किया जायेगा ।

[लघु०] ञ-म-ङ-ण-नानां नासिका च ॥

अर्थः—ञ्, म्, ङ्, ण्, न् इन पाञ्च वर्णों का 'नासिका' स्थान भी होता है ।

व्याख्या—ञमङणनानाम् ।६।३। नासिका ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । समासः—ञश्च मश्च ङश्च णश्च नश्च=ञमङणनाः, तेषाम्=ञमङणनानाम्, इतरेतरद्वन्द्वः । आदिष्वकार उच्चारणार्थः । यहाँ मूल में 'च' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि इन वर्णों का अपने-अपने वर्गों का स्थान भी होता है । यथा—ञकार का तालुस्थान और नासिकास्थान दोनों हैं । इस प्रकार मकारादि में भी समझ लेना चाहिये ।

[लघु०] एदैतोः कण्ठ-तालु ॥

अर्थः—बारह प्रकार के एकार तथा ऐकार का कण्ठ और तालु स्थान होता है ।

व्याख्या—एदैतोः ।६।२। कण्ठतालु ।१।१। एच्च ऐच्च=एदैतौ, तयोः=एदैतोः, इतरेतरद्वन्द्वः । कण्ठश्च तालु च=कण्ठतालु । प्राण्यङ्गत्वात् समाहार-द्वन्द्वः । मूल में तकार सुखपूर्वक उच्चारण के लिये ग्रहण किया गया है, इसे तपर नहीं समझना चाहिये ।

[लघु०] ओदौतोः कण्ठोष्ठम् ॥

अर्थः—बारह प्रकार के ओकार तथा औकार का 'कण्ठ' और 'ओष्ठ' स्थान होता है ।

व्याख्या—ओदौतोः ।६।२। कण्ठोष्ठम् ।१।१। समासः—ओच्च औच्च ओदौतौ, तयोः=ओदौतोः, इतरेतर-द्वन्द्वः । कण्ठश्च ओष्ठौ च कण्ठोष्ठम्, प्राण्यङ्गत्वात् समाहारद्वन्द्वः । **ओत्वोष्ठयोः समासे वा** इति वार्तिकेन पररूपता । यहां भी मूल में तकार मुख-सुखार्थ ही समझना चाहिये ।

[लघु०] वकारस्य दन्तोष्ठम् ॥

अर्थः—वकार का दन्त और ओष्ठ स्थान होता है ।

व्याख्या—वकारस्य ।६।१। दन्तोष्ठम् ।१।१। समासः—दन्ताश्च ओष्ठौ च=दन्तोष्ठम्, प्राण्यङ्गत्वात् समाहारद्वन्द्वः । **ओत्वोष्ठयोः समासे वा** इति वार्तिकेन पररूपता । जो लोग वकार के उच्चारण में दोनों ओष्ठों का प्रयोग करके उसे बकार बना देते हैं उन्हें यह वचन ध्यान से पढ़ना चाहिये ।

[लघु०] जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम् ॥

अर्थः—जिह्वामूलीय का स्थान जिह्वा की जड़ होता है ।

व्याख्या—जिह्वामूलीयस्य ।६।१। जिह्वामूलम् ।१।१। जिह्वा का मूल स्थान

प्राय: कण्ठ के ही निकट होता है। अच् से परे तथा ककार खकार से पूर्व '⌣' ऐसा चिह्न जिह्वामूलीय का होता है, इस का विवेचन आगे इसी प्रकरण में मूल में ही किया जायेगा।

[लघु०] नासिकाऽनुस्वारस्य ॥

अर्थः—अनुस्वार का नासिका-स्थान होता है।

व्याख्या—नासिका ।१।१। अनुस्वारस्य ।६।१। अच् से परे '-ं' इस प्रकार के चिह्न को 'अनुस्वार' कहते हैं। इस का विवेचन आगे मूल में ही किया जायेगा।

[लघु०] इति स्थानानि ॥

अर्थः—ये स्थान समाप्त हुए।

[लघु०] यत्नो द्विधा, आभ्यन्तरो बाह्यश्च । आद्यः पञ्चधा, स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृतविवृतसंवृतभेदात् । तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम् । ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम् । ईषद्विवृतमूष्मणाम् । विवृतं स्वराणाम् । ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम् । प्रक्रिया-दशायान्तु विवृतमेव ॥

अर्थः—यत्न दो प्रकार का होता है, एक 'आभ्यन्तर' और दूसरा 'बाह्य'। पहला आभ्यन्तर-यत्न पांच प्रकार का होता है, १ स्पृष्ट, २ ईषत्स्पृष्ट, ३ ईषद्विवृत, ४ विवृत, ५ संवृत। इन में से स्पृष्ट-प्रयत्न स्पर्श अक्षरों का होता है। ईषत्स्पृष्ट-प्रयत्न अन्तःस्थ अक्षरों का होता है। ईषद्विवृत-प्रयत्न ऊष्म अक्षरों का होता है। स्वरों का विवृत-प्रयत्न होता है। ह्रस्व अवर्ण का उच्चारण-काल में संवृत-प्रयत्न और प्रयोग-सिद्धि के समय केवल विवृत-प्रयत्न होता है।

व्याख्या—कोशिश को 'यत्न' कहते हैं। वह यत्न यहां दो प्रकार का होता है। एक वर्ण की उत्पत्ति से पूर्व और दूसरा वर्ण की उत्पत्ति के पश्चात्। जो यत्न वर्णोत्पत्ति से पूर्व किया जाता है उसे 'आभ्यन्तर' तथा जो वर्णोत्पत्ति के अनन्तर किया जाता है उसे 'बाह्य' कहते हैं। इन में प्रथम 'आभ्यन्तर' यत्न पांच प्रकार का होता है। यथा—१ स्पृष्ट, २ ईषत्स्पृष्ट, ३ ईषद्विवृत, ४ विवृत, ५ संवृत। वर्णों की उत्पत्ति में जिह्वा के अग्र, उपाग्र, मध्य तथा मूल भागों का उपयोग हुआ करता है। जिह्वा का स्थान को छूना 'स्पृष्ट', थोड़ा छूना 'ईषत्स्पृष्ट', थोड़ा दूर रहना 'ईषद्विवृत', दूर रहना 'विवृत' तथा हट कर समीप रहना 'संवृत' यत्न कहलाता है।

स्पर्श अर्थात् 'क्' से लेकर 'म्' पर्यन्त वर्णों का 'स्पृष्ट' प्रयत्न है; अर्थात् इन के उच्चारण में जिह्वा (यह उपलक्षणमात्र है, पवर्ग के उच्चारण में ओष्ठ भी समझ लेना चाहिये) को स्थान के साथ स्पर्शरूप यत्न करना पड़ता है। अन्तःस्थ अर्थात् य्, व्, र्, ल् वर्णों का 'ईषत्स्पृष्ट' प्रयत्न है; अर्थात् इन के उच्चारण में जिह्वा (ओष्ठ भी) को स्थान के साथ थोड़ा स्पर्शरूप यत्न करना पड़ता है। ऊष्म अर्थात् श्, ष्, स्, ह् वर्णों का 'ईषद्विवृत' प्रयत्न है; अर्थात् इन के उच्चारण में जिह्वा को स्थान से

थोड़ी दूर रखना चाहिये। स्वरों का 'विवृत' प्रयत्न है; अर्थात् इनके उच्चारण में जिह्वा (उकार के उच्चारण में ओष्ठ) को स्थान से दूर रखना चाहिये। ह्रस्व अवर्ण का 'संवृत' प्रयत्न है; अर्थात् इस के उच्चारण में जिह्वा को स्थान से हटा कर उसके समीप रखना चाहिये।

इन सब प्रयत्नों का शिक्षा-ग्रन्थों में यथावत् वर्णन किया गया है वहीं देखें। इन प्रयत्नों से व्याकरण में और तो कोई दोष नहीं आता किन्तु ह्रस्व अकार दीर्घ आकार का सवर्णी नहीं हो सकता; क्योंकि ह्रस्व अकार का संवृत और दीर्घ आकार का विवृत प्रयत्न होता है। सावर्ण्य न होने से 'दण्ड+आनयन' इत्यादि में **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) द्वारा सवर्णदीर्घ न हो सकेगा। इस दोष की निवृत्ति के लिये महामुनि पाणिनि ने इस शास्त्र में प्रक्रिया-अवस्था में ह्रस्व अकार को विवृत माना है, इस से दोनों की सवर्ण-संज्ञा हो जाने से कोई दोष नहीं आता। इस विषय का विस्तार **अ अ** (८.४.६७) सूत्र पर 'काशिका' आदि व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें।

अब वाह्य-यत्न का वर्णन किया जाता है —

[लघु०] बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा। विवारः संवारः श्वासो नादोऽघोषो घोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति। **खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च।** हशः संवारा नादा घोषाश्च। वर्गाणां प्रथम-तृतीय-पञ्चमा यण-श्चाल्पप्राणाः। वर्गाणां द्वितीय-चतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः॥

अर्थः—बाह्ययत्न ग्यारह प्रकार का होता है। १–विवार, २–संवार, ३–श्वास, ४–नाद, ५–अघोष, ६–घोष,[1] ७–अल्पप्राण, ८–महाप्राण, ९–उदात्त, १०–अनुदात्त, ११–स्वरित। 'खर्' प्रत्याहार के अन्तर्गत वर्ण विवार, श्वास तथा अघोष यत्न वाले होते हैं। 'हश्' प्रत्याहार के अन्तर्गत वर्ण संवार, नाद तथा घोष यत्न वाले होते हैं। वर्गों के प्रथम, तृतीय, पञ्चम और यण् अल्पप्राण यत्न वाले होते हैं। वर्गों के द्वितीय, चतुर्थ और शल् महाप्राण यत्न वाले होते हैं।

व्याख्या—हशः संवारा नादा घोषाश्च तथा **यणश्चाल्पप्राणाः** इन दोनों स्थानों पर 'च' से 'अच्' का ग्रहण होता है। अतः अच्—संवार, नाद, घोष तथा अल्पप्राण यत्न वाले हैं। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भी अचों के ही यत्न हैं इन का वर्णन पीछे हो चुका है अतः यहां इन के विषय में कुछ नहीं कहा गया।

यद्यपि यह वर्णन ध्वनिशास्त्र का विषय है तथापि यहां विवार आदि का सङ्क्षिप्त सरलार्थ लिख देना अनुचित न होगा।

विवार—वर्णोच्चारण के समय मुख के खुलने को विवार कहते हैं। जिन वर्णों

---

१. यहां पर **अघोषः, घोषः** ऐसा उपर्युक्त पाठ मानने से अन्वय ठीक हो जाता है, फिर एक २ को छोड़ देने से "विवार, श्वास, अघोष" तथा "संवार, नाद, घोष" यह क्रम भी ठीक हो जाता है।

के उच्चारण करते समय मुख खुलता है वे विवार-यत्न वाले कहाते हैं। **संवार**— वर्णोच्चारण के समय मुख के विकास न होने को संवार कहते हैं। **श्वास**—वर्णोच्चारण के समय श्वास चलने को श्वास यत्न कहते हैं। **नाद**—वर्णोच्चारण के समय नाद अर्थात् गम्भीर ध्वनि होने को नाद यत्न कहते हैं। **घोष-अघोष**—वर्णोच्चारण के समय घोष अर्थात् गूंज का उठना घोष तथा गूंज का न उठना अघोष यत्न कहाता है। **अल्पप्राण-महाप्राण**—वर्णोच्चारण के समय प्राणवायु के अल्प उपयोग को अल्पप्राण तथा अधिक उपयोग को महाप्राण यत्न कहते हैं।

अब उपर्युक्त स्थान-यत्न-प्रकरण में आये हुए[1] १ स्पर्श, २ अन्तःस्थ या अन्तःस्था, ३ ऊष्म, ४ स्वर, ५ जिह्वामूलीय, ६ उपध्मानीय, ७ अनुस्वार और ८ विसर्ग इन आठ शब्दों की व्याख्या स्वयं ग्रन्थकार करते हैं—

[लघु०] कादयो मावसानाः स्पर्शाः। यणोऽन्तस्थाः। शल ऊष्माणः। अचः स्वराः। ᳲक ᳲख इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः। ᳳप ᳳफ इति पफाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृश उपध्मानीयः। 'अं अः' इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ॥

अर्थः—'क्' से ले कर 'म्' पर्यन्त स्पर्श वर्ण हैं। यण् अर्थात् 'य्, व्, र्, ल्' ये चार वर्ण अन्तःस्थ वा अन्तःस्था[2] हैं। शल् अर्थात् 'श्, ष्, स्, ह्' ये चार वर्ण ऊष्म हैं। अच् प्रत्याहार स्वर होता है। 'क्' अथवा 'ख्' वर्ण से पूर्व (तथा अच् से परे) आधे विसर्ग के तुल्य जिह्वामूलीय होता है। 'प्' अथवा 'फ्' वर्ण से पूर्व (तथा अच् से परे) आधे विसर्ग के तुल्य उपध्मानीय होता है। 'अं, अः' यहां अकार स्वर से परे क्रमशः अनुस्वार तथा विसर्ग हैं।

व्याख्या—'क्' से 'म्' तक स्पर्श वर्ण हैं। यहां लौकिक क्रम का आश्रयण किया गया है जो आज तक प्रसिद्ध चला आ रहा है। प्रत्याहारसूत्रों में 'क्' से 'म्' तक मिलना असम्भव है अतः कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग ये पच्चीस वर्ण ही स्पर्शसञ्ज्ञक होते हैं। इन का नाम स्पर्श इस कारण से हैं क्योंकि इन का उच्चारण जिह्वा (ओष्ठ भी) का स्थान के साथ स्पर्श होने से होता है। 'य्, व्, र्, ल्' इन चार वर्णों को अन्तःस्थ या अन्तःस्था इसलिये कहते हैं क्योंकि ये स्वर और व्यञ्जनों के बीच में रहते हैं। प्रत्याहारसूत्रों में भी स्वरों और व्यञ्जनों के मध्य इन को पढ़ा गया है। ये व्यञ्जन भी हैं और स्वर भी। अंग्रेजी में इन को अर्धस्वर (Semi Vowel) भी इसीलिये कहा जाता है। **इको यणचि** (१५), **इग्यणः सम्प्रसारणम्**

---

१. **तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम्; ईषत्स्पृष्टम् अन्तःस्थानाम्; ईषद्विवृतम् ऊष्मणाम्; विवृतं स्वराणाम्; जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्; उपूपध्मानीयानामोष्ठौ; नासिकाऽनुस्वारस्य; अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः।**

२. 'अन्तःस्थ' शब्द का उच्चारण रामशब्दवत् तथा 'अन्तःस्था' शब्द का उच्चारण विश्वपाशब्दवत् होता है।

(२५६) आदि सूत्र भी यही प्रकट करते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि प्रसिद्ध-लिपिक्रम में स्पर्शों और ऊष्मों के मध्य में वर्त्तमान होने से इन का नाम अन्तःस्थ पड़ गया है। 'श्, ष्, स्, ह्' ये चार वर्ण ऊष्म कहाते हैं। इन को ऊष्म कहने का कदाचित् यह प्रयोजन है कि इन के उच्चारण से गरम वायु निकलती है। कुछ लोगों की राय है कि इन के उच्चारण से शरीर में उष्णता=गरमी का अधिक सञ्चार होता है अतः ये ऊष्म कहाते हैं। 'क्' या 'ख्' परे होने पर विसर्ग के स्थान पर जिह्वामूलीय तथा 'प्' या 'फ्' परे होने पर उपध्मानीय आदेश होते हैं यह आगे **कुप्वोः ⌣ क ⌣ पौ च** (९८) सूत्र पर स्पष्ट करेंगे। ये जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय आधे विसर्ग के सदृश होते हैं। यहां सादृश्य उच्चारण की अपेक्षा से नहीं किन्तु लिपि की अपेक्षा से समझना चाहिये। यथा विसर्ग का स्वरूप '⚬⚬' इन ऊपर नीचे लिखे दो गोल शून्य चिह्नों से प्रकट किया जाता है, इनका आधा '⌣' यही उपध्मानीय और जिह्वा-मूलीय का स्वरूप समझना चाहिये। अनुस्वार की आकृति 'ं' इस प्रकार ऊपर एक बिन्दुरूप होती है। यह सदा स्वर के ऊपर लिखा जाता है परन्तु इस की स्थिति सदा स्वर के अनन्तर स्वीकार की जाती है। अनुस्वार का चिह्न यथा—अं, इं, उं, कं, किं, कुं इत्यादि। विसर्ग की आकृति 'ः' इस प्रकार दो गोल चिह्नों से प्रकट की जाती है। यह सदा स्वर के आगे प्रयुक्त किया जाता है। इसकी स्थिति भी स्वर के अनन्तर ही स्वीकार की जाती है। विसर्ग का उदाहरण यथा—अः, इः, उः, कः, किः, कुः इत्यादि।

(१) अथ स्थान-बोधक-चक्रम्

कण्ठः	तालु	ओष्ठौ	मूर्धा	दन्ताः	नासिका	कण्ठतालु	कण्ठोष्ठम्	दन्तोष्ठम्	जिह्वा०
अ	इ	उ	ऋ	लृ	ञ्	ए	ओ	व्	⌣क
क्	च्	प्	ट्	त्	म्	ऐ	औ		⌣ख
ख्	छ्	फ्	ठ्	थ्	ङ्				
ग्	ज्	ब्	ड्	द्	ण्				
घ्	झ्	भ्	ढ्	ध्	न्				
ङ्	ञ्	म्	ण्	न्	ं				
ह्	य्	⌣प	र्	ल्					
ः	श्	⌣फ	ष्	स्					

(२) अथ आभ्यन्तर-यत्न-बोधक-चक्रम्

स्पृष्टम्	ईषत्स्पृष्टम्	विवृतम्	ईषद्विवृतम्	संवृतम्
क् ख् ग् घ् ङ्	य्	अ ए	श्	ह्रस्वस्य
च् छ् ज् झ् ञ्	व्	इ ओ	ष्	अवर्णस्य
ट् ठ् ड् ढ् ण्	र्	उ ऐ	स्	उच्चारणकाले
त् थ् द् ध् न्	ल्	ऋ औ	ह्	केवलम्
प् फ् ब् भ् म्		लृ		

(३) अथ बाह्य-यत्न-बोधक-चक्रम्

विवारः, श्वासः, अघोषः	संवारः, नादः, घोषः	अल्पप्राणः	महाप्राणः	उदात्तानुदात्त-स्वरिताः
क् ख्	ग् घ् ङ्	क् ग् ङ्	ख् घ्	अ
च् छ्	ज् झ् ञ्	च् ज् ञ्	छ् झ्	इ
ट् ठ्	ड् ढ् ण्	ट् ड् ण्	ठ् ढ्	उ
त् थ्	द् ध् न्	त् द् न्	थ् ध्	ऋ
प् फ्	ब् भ् म्	प् ब् म्	फ् भ्	लृ
श्	य् व्	य्	श्	ए
ष्	र् ल्	व् [सब स्वर]	ष्	ओ
स्	ह्	र्	स्	ऐ
	[सब स्वर]	ल्	ह्	औ

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(११) **अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः ।१।१।६८॥**

प्रतीयते=विधीयत इति प्रत्ययः । अविधीयमानोऽण् उदिच्च सवर्णस्य सञ्ज्ञा स्यात् । अत्रैवाण् परेण णकारेण । कुँ, चुँ, टुँ, तुँ, पुँ—एत उदितः । तदेवम्—अ इत्यष्टादशानां सञ्ज्ञा, तथेकारोकारौ । ऋकारस्त्रिंशतः, एवम् लृकारोऽपि । एचो द्वादशानाम् । अनुनासिकाऽननुनासिकभेदेन यवला द्विधा, तेनाऽननुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः सञ्ज्ञा ॥

अर्थः— जिस का विधान किया जाये उसे 'प्रत्यय' कहते हैं । अप्रत्यय अर्थात् न विधान किया हुआ अण् और उदित् सवर्णों की तथा अपनी सञ्ज्ञा वाला हो । **अत्रैवाण्**— केवल इसी सूत्र में अण् प्रत्याहार पर णकार से गृहीत होता है । 'कुँ, चुँ, टुँ, तुँ, पुँ' इन को उदित् कहते हैं। इस प्रकार 'अ' यह अठारह प्रकार की सञ्ज्ञा वाला हो जाता है । इसी प्रकार 'इ' और 'उ' भी । ऋकार तीस प्रकार की सञ्ज्ञा वाला होता है । इसी प्रकार लृकार भी । एच् प्रत्याहार का प्रत्येक बारह २ प्रकार की सञ्ज्ञा है । अनुनासिक और अननुनासिक भेद से य्, व्, ल् दो प्रकार के होते हैं, अतः अननुनासिक य्, व्, ल् ही दो २ की सञ्ज्ञा होंगे ।

व्याख्या—अण् ।१।१। उदित् ।१।१। सवर्णस्य ।६।१। च इत्यव्ययपदम् । अप्रत्ययः ।१।१। स्वस्य ।६।१। (चकार के बल से **स्वं रूपं शब्दस्याऽशब्दसञ्ज्ञा** सूत्र से 'स्वम्' पद आ कर षष्ठ्यन्त में परिणत हो जाता है) । समासः—उत्=ह्रस्व उवर्णः इत् यस्मात् स उदित्, बहुव्रीहि-समासः । प्रतीयते=विधीयते इति प्रत्ययः, प्रतिपूर्वाद् इणः कर्मणि अच्प्रत्ययः । न प्रत्ययः= अप्रत्ययः, नञ्तत्पुरुषसमासः । **अर्थः**— (अप्रत्ययः) न विधान किया हुआ (अण्) अण् और (उदित्) उदित् (सवर्णस्य) सवर्णियों की (च) तथा (स्वस्य) अपने स्वरूप की सञ्ज्ञा होता है ।

'प्रत्यय' शब्द यहां यौगिक है, इस का अर्थ है 'विधान किया हुआ' । यथा— **इको यण् अचि** (१५) सूत्र में 'यण्' और **सनाशंसभिक्ष उः** (८४०) सूत्र में 'उ' विधान किया गया है । अतः ये दोनों प्रत्यय हैं ।

अण् तथा इण् प्रत्याहार दो प्रकार से बन सकते हैं । एक—**अ इ उ ण्** के णकार से और दूसरा **लँण्** के णकार से । कहां पूर्व णकार से तथा कहां पर णकार से इन का ग्रहण करना चाहिये ? इस विषय में ऊहापोह द्वारा निश्चित भाष्य-सम्मत निर्णय यह है—

परेणैवेण्ग्रहाः सर्वे, पूर्वेणैवाण्ग्रहा मताः ।
ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु ॥

अर्थात् इण् प्रत्याहार सर्वत्र पर **लँण्** वाले णकार से तथा अण् प्रत्याहार **अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः** (११) को छोड़ सर्वत्र **अइउण्** वाले णकार से ग्रहण करना चाहिये । **अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः** सूत्र में अण् प्रत्याहार **लँण्** वाले णकार से ग्रहण किया जाता है । इस नियम के अनुसार यहां 'अण्' पर णकार से ग्रहण होता है । तो

इस प्रकार यहां 'अण्' में 'अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्' इन चौदह वर्णों का ग्रहण होता है। यदि ये वर्ण अविधीयमान (न विधान किये हुए) होंगे तो अपनी तथा अपने सवर्णियों की सञ्ज्ञा होंगे। यथा—**इको यण् अचि** (१५) यहां इक् और अच् अविधीयमान हैं—विधान नहीं किये गये (विधान तो यण् ही किया गया है); इस से इक्-प्रत्याहारान्तर्गत 'इ, उ, ऋ, लृ' ये चार वर्ण अपनी तथा अपने सवर्णियों की सञ्ज्ञा होंगे। इस से 'सुधी+उपास्य' यहां दीर्घ ईकार के स्थान पर भी यण् हो जाता है। एवम् अच् प्रत्याहार के अन्तर्गत 'अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ' ये नौ वर्ण भी अपनी तथा अपने सवर्णियों की सञ्ज्ञा होंगे। इस से 'दधि+आनय=दध्यानय' यहां दीर्घ आकार के परे होने पर भी यण् सिद्ध हो जाता है।

'कुँ, चुँ, टुँ, तुँ, पुँ' ये इस शास्त्र में उदित् माने जाते हैं। इन के उकार की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा होती है। यद्यपि 'कुँ, चुँ, टुँ, तुँ, पुँ' इन समुदायों का कोई सवर्ण नहीं होता तथापि इन समुदायों के आदि वर्ण 'क्, च्, ट्, त्, प्' के सवर्णों का तथा उन के स्वरूप का यहां ग्रहण समझना चाहिये। 'क्' के सवर्ण 'ख्, ग्, घ्, ङ्' ये चार वर्ण हैं अतः 'कुँ' कहने से इन चार वर्णों तथा पांचवें अपने रूप 'क्' अर्थात् कुल मिला कर पांच वर्णों का ग्रहण होगा। इसी प्रकार 'चुँ' से चवर्ग, 'टुँ' से टवर्ग, 'तुँ' से तवर्ग तथा 'पुँ' से पवर्ग का ग्रहण होगा।

उदित् के साथ 'अप्रत्ययः' का सम्वन्ध नहीं है, अतः उदित् चाहे विधीयमान हो या अविधीयमान, प्रत्येक अवस्था में अपनी तथा अपने सवर्णों की सञ्ज्ञा होगा। यथा—**चोः कुः** (३०६) यहां 'चुँ' अविधीयमान और 'कुँ' विधीयमान है, दोनों अपने तथा अपने सवर्णों के ग्राहक होंगे। 'अण्' के साथ 'अप्रत्ययः' का सम्बन्ध इस लिये किया गया है कि **सनाशंसभिक्ष उः** (८४०) इत्यादि स्थानों में विधीयमान उकार आदि सवर्णों के ग्राहक न हों, इस से दीर्घ ऊकार आदि प्रसक्त न होंगे।

अब अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल् ये सञ्ज्ञाएं हैं, इन के सञ्ज्ञी निम्नप्रकार से होते हैं।

अ, इ, उ

इन सञ्ज्ञाओं के पीछे लिखे अनुसार अठारह २ सञ्ज्ञी होते हैं।

ऋ, लृ

वार्त्तिक (१) से इन दोनों की सवर्णसञ्ज्ञा हो जाने के कारण प्रत्येक वर्ण के तीस २ सञ्ज्ञी होते हैं। ('ऋ' के १८+'लृ' के १२=३०)।

ए, ओ, ऐ, औ

ह्रस्व न होने के कारण इन सञ्ज्ञाओं में से प्रत्येक वर्ण के पीछे लिखे अनुसार बारह २ सञ्ज्ञी होते हैं।

य्, व्, ल्

ये दो प्रकार के होते हैं, एक अनुनासिक और दूसरे अननुनासिक। अण् प्रत्याहार में अननुनासिक य्, व्, ल् का पाठ है, अतः अननुनासिक ही अपनी तथा दूसरे

अनुनासिकों की सञ्ज्ञा होते हैं। यहां यह भी समझ लेना चाहिये कि दीर्घ तथा प्लुत वर्ण अण्प्रत्याहारान्तर्गत न होने से सवर्णों के ग्राहक नहीं हुआ करते। ह्रस्व वर्ण ही (एच् दीर्घ ही) अणों में गृहीत होते हैं, अतः वे ही सवर्णों के ग्राहक हैं।

रेफ और हकार अणों के अन्तर्गत होते हुए भी किसी अन्य वर्ण के ग्राहक नहीं होते, क्योंकि शिक्षाकारों का कथन है कि—**रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति** अर्थात् रेफ और ऊष्म वर्णों के सवर्ण नहीं हुआ करते।

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(१२) **परः सन्निकर्षः संहिता ।१।४।१०८॥**

वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहिता-सञ्ज्ञः स्यात् ॥

अर्थः—वर्णों की अत्यन्त समीपता संहिता-सञ्ज्ञक होती है।

व्याख्या—परः ।१।१। सन्निकर्षः ।१।१। संहिता ।१।१। अर्थः—(परः)अत्यन्त (सन्निकर्षः) सामीप्य (संहिता) 'संहिता' सञ्ज्ञक होता है। दो वर्णों के मध्य आधी मात्रा से कम का व्यवधान सम्भव नहीं हो सकता; यही अत्यन्त समीपता 'संहिता' कहाती है। संहितासंज्ञा का सोदाहरण विवेचन आगे (१५) सूत्र पर देखें।

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(१३) **हलोऽनन्तराः संयोगः ।१।१।७॥**

अज्भिरव्यवहिता हलः संयोग-सञ्ज्ञाः स्युः ॥

अर्थः—अचों के व्यवधान से रहित हलों की 'संयोग' सञ्ज्ञा हो।

व्याख्या—हलः ।१।३। अनन्तराः ।१।३। संयोगः ।१।१। समासः—अविद्यमानम् अन्तरम्=व्यवधानं येषान्तेऽनन्तराः, बहुव्रीहि-समासः। अर्थः—(अनन्तराः) जिन में अन्तर अर्थात् व्यवधान नहीं ऐसे (हलः) हल् (संयोगः) संयोग-सञ्ज्ञक होते हैं। व्यवधान (परदा) सदा विजातीयों का ही हुआ करता है; सजातीयों का नहीं। हल् के विजातीय अच् हैं। अतः यदि हल्, अचों के व्यवधान से रहित होंगे तो उन की संयोग-सञ्ज्ञा होगी। सूत्र में 'हलः' पद में बहुवचन विवक्षित नहीं, किन्तु जाति में बहुवचन किया गया है। इस से दो या दो से अधिक हलों की संयोग-सञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है। उदाहरण यथा—भृट्। यहां 'भृस्ज्' शब्द के आगे 'सुँ' प्रत्यय के अपृक्त सकार का लोप होने पर स् और ज् की संयोग-सञ्ज्ञा हो कर **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** (३०९) सूत्र से संयोग के आदि सकार का लोप हो जाता है। इसी प्रकार 'इन्द्रः' में नकार दकार और रेफ की, 'उष्ट्रः' में षकार टकार और रेफ की संयोगसञ्ज्ञा समझनी चाहिये।

नोट—ध्यान रहे कि प्रत्येक हल् की संयोगसञ्ज्ञा नहीं होती किन्तु सम्पूर्ण हल्समुदाय की ही हुआ करती है। फिर चाहे वह हल्-समुदाय दो हलों का हो अथवा दो से अधिक हलों का।

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(१४) **सुँप्तिङन्तं पदम् ।१।४।१४॥**

सुँबन्तं तिङन्तञ्च पदसञ्ज्ञं स्यात् ॥

अर्थः—सुँबन्त और तिङन्त शब्द-स्वरूप पद-सञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या – सुँप्तिङन्तम् ।१।१। पदम् ।१।१। समासः—सुँप् च तिङ् च सुँप्तिङौ, इतरेतरद्वन्द्वः । सुँप्तिङौ अन्तौ यस्य तत्=सुँप्तिङन्तम् (शब्दस्वरूपम्), बहुव्रीहि-समासः । अर्थः—(सुँप्तिङन्तम्) सुँबन्त और तिङन्त शब्द-स्वरूप (पदम्) पद-सञ्ज्ञक होते हैं । यहां शब्दानुशासन-शास्त्र के प्रस्तुत होने से **सुँप्तिङन्तम्** पद का 'शब्द-स्वरूपम्' विशेष्य अध्याहार कर लिया जाता है। **स्वौजसमौट्०** (११८) सूत्र में विधान किये गये इक्कीस प्रत्यय 'सुँप्' तथा **तिप्तस्झिसिप्०** (३७५) सूत्र में विधान किये गये अठारह प्रत्यय 'तिङ्' कहाते हैं । ये सुँप् वा तिङ् प्रत्यय जिसके अन्त में हों उन की पद-सञ्ज्ञा होती है । यहां यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि इन प्रत्ययों से युक्त सम्पूर्ण समुदाय की ही पद सञ्ज्ञा होती है । केवल प्रकृति वा प्रत्यय की नहीं । उदाहरण यथा—'रामः,पुरुषः, देवस्य, पुरुषस्य' इत्यादि सुँप् अन्त में होने के कारण 'पदसञ्ज्ञक' हैं । पचति, पठति, अपचत्, अपठत्—इत्यादि तिङ् अन्त में होने के कारण पदसंज्ञक हैं । पदसंज्ञा का प्रयोजन आगे (७७,८०,९३,१०५ आदि) सूत्रों में स्पष्ट होगा । इस सूत्र में 'अन्त' ग्रहण का प्रयोजन आगे (१५५) सूत्र पर स्पष्ट करेंगे ।

[लघु०] इति सञ्ज्ञा-प्रकरणं समाप्तम् ।।

अर्थः—यह सञ्ज्ञा-प्रकरण समाप्त होता है ।

व्याख्या—इस प्रकरण में यद्यपि व्याकरण-गत सम्पूर्ण सञ्ज्ञाओं का समावेश नहीं किया गया तथापि सन्धि-प्रकरण के लिये उपयोगी प्रायः सभी सञ्ज्ञाओं का इस में वर्णन आ गया है । 'प्रायः' कथन का यह तात्पर्य है कि **अदेङ् गुणः** (२५), **वृद्धिरादैच्** (३२), **अचोऽन्त्यादि टि** (३९), **तस्य परमाम्रेडितम्** (९९) प्रभृति सूत्रों से गुण, वृद्धि, टि और आम्रेडित आदि अन्य भी सन्ध्युपयोगी सञ्ज्ञाएं आगे कही गई हैं ।

अभ्यास (१)

(१) 'क्, श्, ए, व्, ञ्, स्, ख्, ह्, अ, र्, ओ, ऋ' इन वर्णों के स्थान तथा दोनों प्रकार के यत्न लिख कर यथासम्भव सवर्णों का भी निर्देश करें ।

(२) 'अण्, इच्, रल्, अम्, यण्, छव्, खय्, झय्, रँ' इन प्रत्याहारों की ससूत्र सिद्धि कर तदन्तर्गत वर्णों का संक्षिप्तरीत्या उल्लेख करें ।

(३) अचों में परस्पर कितने प्रकार का अन्तर सम्भव है; उदाहरण द्वारा स्पष्ट करें ।

(४) कौन सूत्र 'ऋ' सञ्ज्ञा करता है ? इस के कितने और कौन से सञ्ज्ञी होते हैं ?

(५) **अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः** सूत्र में 'अप्रत्ययः' पद का क्या अभिप्राय है और इस का किस के साथ सम्बन्ध है ? सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(६) सञ्ज्ञा और सञ्ज्ञी स्पष्ट करते हुए **अदर्शनं लोपः** सूत्र के 'अदर्शनम्' पद का विवेचन करें ।

(७) 'इतः' पद के पीछे से प्राप्त होने पर भी **तस्य लोपः** सूत्र में 'तस्य' पद के ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

(८) उदात्त, अनुदात्त और स्वरित में परस्पर भेद बताएं ।

(९) 'उपदेश' किसे कहते हैं ? यथाधीत स्पष्ट करें ।

(१०) **अष्टाध्यायी** किस ने बनाई है ? इस में कितने अध्याय और कितने पाद हैं ? **लघु-सिद्धान्त-कौमुदी** के साथ **अष्टाध्यायी** का क्या संबन्ध है ?

(११) **त्रिमुनि व्याकरणम्** और **उत्तरोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्** का भाव स्पष्ट करें ।

(१२) **लघु-सिद्धान्त-कौमुदी** शब्द का अर्थ लिख कर इस के कर्त्ता के विषय में संक्षिप्त नोट लिखें ।

(१३) 'उँ' और 'ईँ' में, 'ऋ' और 'ऌ' में, 'एँ' और 'ओ' में, 'औ' और '**औ**' में पारस्परिक भेद बताएं ।

(१४) आभ्यन्तर और बाह्य यत्नों के भेद लिख कर उन का सार्थ विवेचन करें ।

(१५) यदि सम्पूर्ण स्थान तुल्य होने पर ही सवर्ण-सञ्ज्ञा होती है तो क्या 'क्' और 'ङ्' की सवर्णसञ्ज्ञा नहीं होगी ?

(१६) 'ऌ' और 'ऐ' के बारह-बारह भेद सूत्रों द्वारा सिद्ध करें ।

(१७) 'संयोग' सञ्ज्ञा क्या प्रत्येक वर्ण की है या समुदाय की ? स्पष्ट करें ।

(१८) **अर्ध-विसर्ग-सदृश उपध्मानीयः** इस वचन का विवेचन करें ।

(१९) निम्न-लिखित सूत्रों का सूत्रस्थ पदों द्वारा अर्थ निकाल कर व्याख्यान करें—**तुल्यास्य-प्रयत्नं सवर्णम्** । **अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः** । **हलोऽनन्तराः संयोगः** । **ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः** । **समाहारः स्वरितः** ।

(२०) पद, संहिता, अनुनासिक और लोप सञ्ज्ञा करने वाले सूत्र सार्थ लिखें ।

(२१) **इति सञ्ज्ञा-प्रकरणं समाप्तम्** इस वचन की विस्तृत समालोचना करें ।

(२२) विसर्जनीय के स्थान का शास्त्ररीत्या विवेचन करें ।

(२३) सूत्रों के आगे मुद्रित तीन संख्याओं का क्या तात्पर्य होता है ?

(२४) किस २ प्रत्याहार के अन्तर्गत निम्नस्थ वर्ण आते हैं ?
श्, ष्, स्; य्, व्, र्, ल्; च्, ट्, त्, क्, प्; वर्गतृतीय; वर्गपञ्चम ।

(२५) प्रत्याहारसूत्रों में कौन सा वर्ण (अनुबन्ध नहीं) दो बार प्रयुक्त हुआ है और क्यों?

इति भैमीव्याख्ययोपेतायां लघु-सिद्धान्त-कौमुद्यां सन्ध्युपयोगिसंज्ञानां प्रायोवर्णनं समाप्तम् ॥

अथाऽच्सन्धि-प्रकरणम्

अब अचों की सन्धि का प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है । इस प्रकरण में अचों अर्थात् स्वरों का प्रायः स्वरों के साथ मेल दिखाया जायेगा ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१५) इको यणचि** ।६।१।७४।।

इकः स्थाने यण् स्यादचि संहितायां विषये । 'सुधी+उपास्य' इति स्थिते—

अर्थः—संहिता के विषय में अच् के विद्यमान होने पर इक् के स्थान पर यण् हो जाता है । 'सुधी+उपास्य' ऐसे स्थित होने पर (अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है) ।

व्याख्या—इकः ।६।१। यण् ।१।१। अचि—भावसप्तम्यन्तम्[1] । संहितायाम्—विषयसप्तम्यन्तम् (**संहितायाम्** यह पीछे से अधिकार चला आ रहा है) । महामुनि पाणिनि ने अपने सूत्रों का अर्थज्ञान कराने के लिए कुछ विशेष नियम बनाये हैं, जो कि अष्टाध्यायी के प्रथमाध्याय के प्रथमपाद के अन्तर्गत हैं; यह हम पीछे कह चुके हैं । उन में **षष्ठी स्थानेयोगा** (१.१.४८) यह भी एक नियम है । इस का तात्पर्य यह है कि इस शास्त्र में षष्ठीविभक्ति का अर्थ 'स्थान पर' ऐसा करना चाहिये । यथा—'इकः' ।६।१। इस का अर्थ हुआ 'इक् के स्थान पर' । 'एचः' ।६।१। इस का अर्थ हुआ 'एच् के स्थान पर' । परन्तु यह नियम वहां लागू नहीं होगा, जहां सम्बन्ध पहले से नियत किया गया होगा । यथा—**ऊद् उपधाया गोहः** (६.४.८९) । ऊत् ।१।१। उपधायाः ।६।१। गोहः ।६।१। यहां गोह् का सम्बन्ध उपधा से नियत किया गया है, अतः यहाँ स्थानषष्ठी का प्रसङ्ग न होगा । इस विषय का विस्तार **काशिका** (अष्टाध्यायी की सुप्रसिद्ध व्याख्या) आदि में देखना चाहिये । यहां 'इकः' इस में स्थानषष्ठी है, इस से 'इक् के स्थान पर' ऐसा इस का अर्थ होगा । 'अचि' यहां भावसप्तमी या सतिसप्तमी है[2] । अर्थः—(इकः) इक् के स्थान पर (यण्) यण् होता है (अचि) अच् होने पर (संहितायाम्) संहिता के विषय में । अच् विद्यमान हो तो संहिता के विषय में अर्थात् संहिता करने की इच्छा होने पर इक् (इ, उ, ऋ, लृ) के स्थान पर यण् (य्, व्, र्, ल्) करना चाहिये । यहां यण् विधान किया गया है, अतः यह अण् प्रत्याहार के अन्तर्गत होता हुआ भी **अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः** (११) से अपने सवर्णियों (अनुनासिक यँ, वँ, लँ वर्णों) का ग्राहक नहीं होगा । इक् और अच् दोनों अविधीयमान अण् हैं; अतः ये अपने सवर्णियों के ग्राहक होंगे ।

---

१. नवीनास्त्वत्र औपश्लेषिकाधारे सप्तमीत्याहुः । तन्मतं शेखरादौ द्रष्टव्यम् ।

२. यह सप्तमी **यस्य च भावेन भावलक्षणम्** (२.३.३७) सूत्र से विधान की जाती है । इस सप्तमी का 'विद्यमान होने पर' या 'होने पर' ऐसा अर्थ होता है । इस का विवेचन इस व्याख्या के तृतीयभागस्थ कारक प्रकरण (पृ० ३४६) पर देखें ।

'सुधीभिरुपास्यः' इस तृतीयातत्पुरुषसमास में **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से भिस् और सुँ का लुक् होने पर 'सुधी+उपास्य' यह रूप हुआ। अब यहां समास के कारण संहिता का विषय स्पष्ट है जैसा कि कहा गया है—

संहितैकपदे नित्या, नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे, वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥

एकपद अर्थात् अखण्डपद में; धातु और उपसर्ग में तथा समास में संहिता नित्य करनी चाहिये; वाक्य में संहिता करना 'वक्ता' (यह उपलक्षणार्थ है, 'लेखक' भी समझ लेना चाहिये) की इच्छा पर निर्भर है, चाहे करे या न करे। इन के उदाहरण यथा—चयः, जयः। यहां 'चे+अ' 'जे+अ' इस अवस्था में अयादेश एकपद होने के कारण नित्य होता है। 'प्र+एति' यहां धातु और उपसर्ग में नित्य संहिता होने से वृद्धि हो कर नित्य 'प्रैति' रूप ही बनेगा। 'गजेन्द्रः' यहां 'गजानामिन्द्रः' इस प्रकार का समास होने से नित्य गुणादेश होगा। 'नाहं वेद्मि' यहां वाक्य होने से 'न अहं वेद्मि' या 'नाहं वेद्मि' दोनों प्रयोग शुद्ध हैं; वक्ता चाहे जिस का प्रयोग करे।

'सुधी+उपास्य' यहां समास है; अतः संहिता नित्य होगी। इस प्रकार संहिता का विषय होने पर **इको यणचि** (१५) सूत्र प्रवृत्त हुआ। यहां सकार में उकार, धकार में ईकार तथा 'उपास्य' शब्द का आदि उकार इक् हैं। यदि सकारस्थ उकार=इक् को यण् करें तो धकारस्थ ईकार='अच्' विद्यमान है। यदि धकारस्थ ईकार=इक् को यण् करें तो सकारस्थ उकार या 'उपास्य' शब्द का आदि उकार='अच्' विद्यमान है तथा यदि 'उपास्य' शब्द के आदि उकार=इक् को यण् करें तो पकारस्थ आकार या विपरीत दिशा में धकारस्थ ईकार=अच् विद्यमान रहता है। तो अब यह शङ्का उत्पन्न होती है कि किस अच् के विद्यमान रहते किस इक् के स्थान पर यण् किया जाये? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये अग्रिमसूत्र लिखते हैं—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—(१६) **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य ।१।१।६५॥**

सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाऽव्यवहितस्य पूर्वस्य बोध्यम् ॥

अर्थः - सप्तम्यन्त के निर्देश से क्रियमाण कार्य अन्य वर्णों के व्यवधान से रहित पूर्व के स्थान पर जानना चाहिये।

व्याख्या—तस्मिन्=सप्तम्यन्तानुकरणं लुप्तसप्तम्येकवचनान्तम्[1]। [**इको यणचि** (१५) आदियों में स्थित 'अचि' आदि सप्तम्यन्त पदों का अनुकरण यहां 'तस्मिन्' शब्द से किया गया है। इसके आगे सप्तमी विभक्ति का **सुँपां सुँलुक्**० (७.१.३९) सूत्र से लुक् हुआ २ है। इस का अर्थ—**इको यणचि** (१५) आदियों में स्थित 'अचि'

---

१. 'तस्मिन्' इत्यत्र नागेशस्तु 'अची'त्यादि-सप्तम्यन्तार्थकतच्छब्दात् सप्तमीति मन्यते।

आदि सप्तम्यन्त पदों के होने पर—ऐसा होता है]। इति इत्यव्ययपदम्। निर्दिष्टे ।७।१। **पूर्वस्य** ।६।१।

इति शब्द पद के अर्थ को उल्टा कर दिया करता है; अर्थात् इस के जोड़ने से शब्दपरक पद अर्थपरक और अर्थपरक पद शब्दपरक हो जाते हैं। यथा—'वृक्षः' इस पद का अर्थ लोक में विद्यमान पदार्थ-विशेष है, अतः यह अर्थपरक है। अब यदि इस के आगे 'इति' शब्द जोड़ दें 'वृक्ष इति', तो इस का अर्थ 'वृक्षः' यह लिखा हुआ शब्द हो जायेगा। शब्दपरक पद से अर्थपरक पद हो जाना **नवेति विभाषा** (१.१.४३) सूत्र में **सिद्धान्तकौमुदी** में देखें। तो अब यहां 'तस्मिन्' इस लुप्तसप्तम्यन्त पद का अर्थ—**इको यणचि** (१५) आदियों में स्थित 'अचि' आदि सप्तम्यन्त पदों के होने पर —ऐसा था। 'इति' के जोड़ने से यह शब्द-परक से अर्थ-परक हो गया; अर्थात् इस का अर्थ "**इको यणचि** आदियों में स्थित 'अचि' आदि सप्तम्यन्त पदों के अर्थों के होने पर" ऐसा हो गया।

'निर्दिष्टे' पद 'तस्मिन्' पद का विशेषण है। 'निर्' का अर्थ निरन्तर और 'दिश्' धातु का अर्थ 'उच्चारण करना' है। तो इस प्रकार 'निर्दिष्टे' पद का अर्थ 'निरन्तर उच्चरित होने पर' ऐसा हो जाता है।

'तस्मिन्' और 'निर्दिष्टे' इन दोनों पदों में भाव-सप्तमी है। भाव-सप्तमी का अर्थ 'होने पर' ऐसा हुआ करता है। इसे 'सति सप्तमी' भी कहते हैं। यह **यस्य च भावेन भावलक्षणम्** (२.३.३७) सूत्र से विधान की जाती है; यथा—'गच्छत्सु बालकेषु त्वं स्थितः' यहां भाव-सप्तमी है। इस प्रकार इस सूत्र का यह अर्थ हुआ—(तस्मिन्निति) **इको यणचि** आदि सूत्रों में स्थित 'अचि' आदि सप्तम्यन्त पदों के अर्थों के (निर्दिष्टे) निरन्तर उच्चरित होने पर (पूर्वस्य) पूर्व के स्थान पर [कार्य होता है]।

यदि सप्तम्यन्त पद के अर्थ से व्यवधान-रहित पूर्व को कार्य करेंगे तो तभी वह सप्तम्यन्त पद का अर्थ निरन्तर उच्चरित हो सकेगा। अतः निरन्तर कथन से यह प्राप्त हुआ कि 'सप्तम्यन्त पदार्थ के उच्चरित होने पर उस से व्यवधान-रहित पूर्व के स्थान पर कार्य हो'।

यथा—**इको यणचि** (१५) सूत्र में 'अचि' यह सप्तम्यन्त पद है। इस सप्तम्यन्त पद का अर्थ यहां 'सुधी+उपास्य' में सकारोत्तर उकार, धकरोत्तर ईकार, 'उपास्य' शब्द का आदि उकार तथा पकारोत्तर आकार है। अब हमें इन में से ऐसा सप्तम्यन्त पदार्थ चुनना है, जिस से अव्यवहित पूर्व इक् हो; हम उसी इक् के स्थान पर ही यण् करेंगे। तो ऐसा सप्तम्यन्त पदार्थ यहां 'उपास्य' शब्द के आदि वाले उकार के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता; क्योंकि अन्यों से पूर्व अव्यवहित इक् नहीं है। तथाहि—पकारोत्तर आकार को यदि सप्तम्यन्त पदार्थ अच् मानें तो उस से अव्यवहित पूर्व 'उपास्य' शब्द का उकार नहीं होता; पकार का व्यवधान

पड़ता है। यदि धकारस्थ ईकार को सप्तम्यन्त पदार्थ अच् मानें तो उस से अव्यवहित पूर्व सकारस्थ उकार नहीं होता; धकार का व्यवधान पड़ता है। यदि सकारोत्तर उकार को सप्तम्यन्त पदार्थ अच् मानें तो इस से पूर्व कोई इक् नहीं रहता। अतः 'उपास्य' शब्द का आदि उकार ही सप्तम्यन्त पद का अर्थ=अच् होने योग्य है और इस से अव्यवहित पूर्व धकारोत्तर ईकार के स्थान पर ही यण् होना चाहिये।[1]

यह परिभाषा-सूत्र है। परिभाषा-सूत्रों का उपयोग रूप-सिद्धि में नहीं हुआ करता, किन्तु इन का उपयोग सूत्रों के अर्थ करने में ही होता है; अर्थात् इन की सहायता से हम सूत्रों का अर्थ किया करते हैं। यहां भी इस सूत्र को रखने का तात्पर्य **इको यणचि** (१५) सूत्र का अर्थ करना ही है। इस सूत्र की सहायता से **इको यणचि** (१५) का यह अर्थ होगा—अच् होने पर, उस से अव्यवहित पूर्व इक् के स्थान पर यण् होता है संहिता के विषय में।

शास्त्र में पर-सप्तमी नाम की किसी सप्तमी का विधान नहीं किया गया। यही सूत्र जब सप्तम्यन्त पद के अर्थ से अव्यवहित पूर्व को कार्य करने के लिये कहता है तो एक प्रकार से भावसप्तमी ही पर-सप्तमी हो जाया करती है। अतः कई लोग **इको यणचि** (१५) सूत्र का अर्थ 'इक् के स्थान पर यण् हो अच् परे होने पर संहिता के विषय में' ऐसा भी किया करते हैं। यह अर्थ भी शुद्ध है। आगे चलकर ग्रन्थकार भी इस परिभाषा को सूत्रार्थ के साथ मिलाते हुए 'परे होने पर' ऐसा ही अर्थ करेंगे।

तो अब धकारस्थ ईकार के स्थान पर यण् अर्थात् य्, व्, र्, ल् प्राप्त होते हैं। यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन चारों में से कौन सा यण् ईकार के स्थान पर किया जाये ? इस शङ्का को दूर करने के लिये ग्रन्थकार एक पाणिनीय परिभाषा को उद्धृत करते हैं—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—(१७) **स्थानेऽन्तरतमः** ।१।१।४९॥

प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः स्यात्। सुध्य्+उपास्य इति जाते—

अर्थः—प्रसङ्ग अर्थात् प्रसक्ति (प्राप्ति) होने पर अत्यन्त सदृश आदेश होता है। 'सुध्य्+उपास्य' इस प्रकार हो जाने पर (अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है)।

व्याख्या—स्थाने ।७।१। अन्तरतमः ।१।१। यहां अन्तर शब्द का अर्थ सदृश है। अतिशयितोऽन्तरः=अन्तरतमः। अर्थः—(स्थाने) प्राप्ति होने पर (अन्तरतमः) अत्यन्त सदृश आदेश[2] होता है।

---

१. ध्यान रहे कि कार्य केवल अव्यवहित को ही नहीं होता किन्तु जो अव्यवहित होते हुए पूर्व भी हो उसे कार्य होता है। इसीलिये यहां विपरीतता में भी कार्य न होगा अर्थात् 'उपास्य' वाले उकार की विपरीत दिशा में धकारोत्तर ईकार सप्तम्यन्त-पदार्थ अच् मानें तो उकार को यण् न होगा; यद्यपि इस में कोई व्यवधान नहीं, तथापि उकार पूर्व में नहीं।

२. जो किसी के स्थान में उस को हटा कर स्वयं स्थित हो जाता है उसे आदेश

एक के स्थान पर बहुतों की यदि प्राप्ति हो तो उन में से जो स्थानी के अत्यन्त सदृश होगा वही स्थानी के स्थान पर आदेश होगा। वर्णों की सदृशता न तो आकृति से और न ही तराजू से तोल कर जानी जा सकती है। इन की सदृशता अर्थ, स्थान, प्रयत्न अथवा मात्रा की दृष्टि से ही देखी जा सकती है। आगे इन के उदाहरण यत्र तत्र बहुत आयेंगे; हम इन का स्पष्टीकरण भी वहीं करेंगे।

यहां ईकार के साथ यणों की सदृशता अर्थ, प्रयत्न और मात्रा की दृष्टि से तो हो नहीं सकती; अब शेष रहे स्थान की दृष्टि से ही समता देखेंगे। ईकार का स्थान **इचुयशानां तालु** के अनुसार तालु है। यणों में तालुस्थान यकार का है; अतः ईकार के स्थान पर यकार होकर 'सुध्य्+उपास्य' ऐसा हो जायेगा।

इस सूत्र में 'अन्तर' शब्द के साथ 'तमप्' जोड़ा गया है, इस कारण 'सदृशों में भी जो अत्यन्त सदृश हो वही आदेश हो' ऐसा अर्थ हो जाता है। इस का फल 'वाग्घरिः' प्रयोग पर हल्सन्धि में स्पष्ट करेंगे।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१८) अनचि च।८।४।४६॥**

अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि। इति धकारस्य द्वित्वम्॥

अर्थः—अच् से परे यर् को विकल्प करके द्वित्व हो जाता है परन्तु अच् परे होने पर नहीं होता। इस सूत्र से धकार को द्वित्व हो जाता है।

व्याख्या—अचः।५।१। (**अचो रहाभ्यां द्वे** से)। यरः।६।१। (**यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** से)। द्वे।१।२। (**अचो रहाभ्यां द्वे** से)। वा इत्यव्ययपदम् (**यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** से)। अनचि।७।१। च इत्यव्ययपदम्। समासः—न अच्=अनच्, तस्मिन्=अनचि, नञ्समासः। 'नञ्' प्रतिषेधार्थक अव्यय है। प्रतिषेध दो प्रकार का होता है। एक **पर्युदास-प्रतिषेध** और दूसरा **प्रसज्य-प्रतिषेध**। तथाहि—

द्वौ नञौ तु समाख्यातौ, पर्युदास-प्रसज्यकौ।
पर्युदासः सदृग्ग्राही, प्रसज्यस्तु निषेध-कृत्॥१॥
प्राधान्यं तु विधेर्यत्र, प्रतिषेधेऽप्रधानता।
पर्युदासः स विज्ञेयो, यत्रोत्तरपदेन नञ्॥२॥
अप्राधान्यं विधेर्यत्र, प्रतिषेधे प्रधानता।
प्रसज्यस्तु स विज्ञेयः, क्रियया सह यत्र नञ्॥३॥

इन तीनों श्लोकों का तात्पर्य निम्नरीत्या जानना चाहिये—

कहते हैं। **शत्रुवदादेशः** आदेश शत्रु के समान होता है—शत्रु जैसा व्यवहार करता है। वह स्थानी को हटा कर वहां स्वयं बैठ जाता है। यथा 'सुधी+उपास्य' में ईकार के स्थान पर होने वाला 'य्' आदेश है। जिस के स्थान पर आदेश होता है उसे **स्थानी** कहते हैं। यथा 'सुधी+उपास्य' में ईकार स्थानी है।

पर्युदास-प्रतिषेध	प्रसज्य-प्रतिषेध
(१) इस में विधि की प्रधानता तथा निषेध की अप्रधानता होती है। यथा—**अब्राह्मणमानय**। यहां लाने की प्रधानता है निषेध की नहीं; क्योंकि लाने का निषेध नहीं किया गया।	(१) इस में विधि की अप्रधानता तथा निषेध की प्रधानता होती है। यथा—**अनृतं न वक्तव्यम्**। यहां 'बोलना चाहिये' इस विधि की अप्रधानता और 'न बोलना चाहिए' इस निषेध की प्रधानता है।
(२) इस में 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध किया करता है। यथा—**अब्राह्मणमानय**। यहां उत्तरपद 'ब्राह्मण' का निषेध किया गया है।	(२) इसमें 'नञ्' क्रिया का निषेध किया करता है। यथा—**अनृतं न वक्तव्यम्** यहां 'नञ्' ने 'बोलना चाहिए' इस क्रिया का निषेध कर दिया है।
(३) इस में जिसका निषेध किया जाता है पुनः विधि में उसके सदृश का ही ग्रहण किया जाता है। यथा—**अब्राह्मणमानय**। यहां ब्राह्मण का निषेध किया गया है, अब जो लाया जायेगा वह भी ब्राह्मण के सदृश अर्थात् मनुष्य ही होगा; पत्थर आदि नहीं।	(३) यहां केवल निषेध ही होता है। यथा—**अनृतं न वक्तव्यम्**। यहां केवल निषेध ही है।

हम विद्यार्थियों के अभ्यास के लिए इन दोनों प्रकार के निषेधों के कुछ उदाहरण दे रहे हैं; इनका अत्यन्त सावधानता से अभ्यास करना चाहिये—

प्रसज्य के उदाहरण--

(१) **न व्यापार-शतेनापि शुकवत् पाठ्यते बकः।**

यहां 'न पाठ्यते'[1] इस प्रकार क्रिया का निषेध किया गया है और इसी निषेध की यहां प्रधानता है, अतः यहां **प्रसज्य-प्रतिषेध** है।

---

१. यद्यपि यहां पर पद्य में क्रिया के साथ 'नञ्' साक्षात् नहीं; तथापि

यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः।
अर्थतो ह्यसमर्थानाम् आनन्तर्यमकारणम्॥ (न्यायद० वा० भा० १.२.९)

इस न्यायदर्शनोद्धृत पद्यानुसार **क्रियया सह यत्र नञ्** वाली बात समन्वित हो जाती है।

(२) न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ।

यहां 'न प्रविशन्ति' इस प्रकार क्रिया का निषेध किया गया है और इसी निषेध की यहां प्रधानता है, अतः यहां **प्रसज्य-प्रतिषेध** है ।

(३) शत्रुणा न हि सन्दध्यात् ।

यहां 'न सन्दध्यात्' इस प्रकार क्रिया का निषेध किया गया है और इसी निषेध की यहां प्रधानता है, अतः यहां **प्रसज्य-प्रतिषेध** है ।

(४) न कुर्यान्निष्फलं कर्म ।

यहां 'न कुर्यात्' इस प्रकार क्रिया का निषेध किया गया है और इसी निषेध की यहां प्रधानता है, अतः यहां **प्रसज्य-प्रतिषेध** है ।

(५) एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति ।

यहां 'न सिध्यति' इस प्रकार क्रिया का निषेध किया गया है और इसी निषेध की यहां प्रधानता है, अतः यहां **प्रसज्य-प्रतिषेध** है ।

पर्युदास के उदाहरण —

(१) पुत्रः शत्रुरपण्डितः ।

'अपण्डितः' यहां पर 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध करता है। विधि की प्रधानता है। किञ्च—विधि में निषिध्यमान के सदृश का ग्रहण होता है, अतः यहां **पर्युदास-प्रतिषेध** है ।

(२) जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः ।

'अनाथः' यहां पर 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध करता है। विधि की प्रधानता है। किञ्च— विधि में निषिध्यमान के सदृश का ग्रहण होता है, अतः यहां **पर्युदास-प्रतिषेध** है ।

(३) दूरादस्पर्शनं वरम् ।

'अस्पर्शनम्' यहां पर 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध करता है। विधि की प्रधानता है। किञ्च—विधि में निषिध्यमान के सदृश का ग्रहण होता है; अतः यहां **पर्युदास-प्रतिषेध** है ।

(४) नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति ।

'अप्राप्यम्' यहां पर 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध करता है। विधि की प्रधानता है। किञ्च—विधि में निषिध्यमान के सदृश का ग्रहण होता है, अतः यहां **पर्युदास-प्रतिषेध** है ।

(५) समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः ।

'अपेयाः' यहां पर 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध करता है। विधि की प्रधानता है। किञ्च—विधि में निषिध्यमान के सदृश का ग्रहण होता है, अतः यहां **पर्युदास-प्रतिषेध** है ।

यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि प्रायः समास में पर्युदास और असमास में प्रसज्य-प्रतिषेध हुआ करता है। 'प्रायः' इसलिये कहा गया है कि कहीं २ इस नियम का उल्लङ्घन भी हो जाया करता है। यथा—**अनचि च**(१८), **सुँडनपुंसकस्य**(१६३) इत्यादि में समास होने पर भी प्रसज्य-प्रतिषेध है।

'अनचि' यहां प्रसज्य-प्रतिषेध है; अतः 'अच् परे होने पर द्वित्व न हो' इस निषेध की ही प्रधानता होगी, विधि की नहीं। अर्थात् अच् परे न हो, अच् से भिन्न चाहे अन्य वर्ण परे हो या न हो द्वित्व हो जायेगा। इस का फल यह होगा कि अवसान में भी द्वित्व हो जायेगा। यथा—वाक्क्, वाक्। यदि 'अनचि' में पर्युदास-प्रतिषेध होता तो सदृश का ग्रहण होने से अच् के सदृश=हल् के परे होने पर ही द्वित्व होता; 'वाक्' इत्यादि स्थानों पर अवसान में द्वित्व न हो सकता। अतः पर्युदास की अपेक्षा प्रसज्य-प्रतिषेध मानना ही उपयुक्त है। किञ्च—यदि यहां मुनिवर पाणिनि को पर्युदास-प्रतिषेध अभीष्ट होता; तो वे 'अनचि' न कह कर सीधा इस के स्थान पर 'हलि' ही कह देते; इस से एक वर्ण का लाघव भी हो जाता, परन्तु उन के ऐसा न कहने से यह प्रतीत होता है कि यहां पर्युदास-प्रतिषेध नहीं किन्तु प्रसज्य-प्रतिषेध है।

अर्थः—(अचः) अच् से परे (यरः) यर् प्रत्याहार के स्थान पर (वा) विकल्प करके (द्वे) दो शब्द स्वरूप हो जाते हैं। (अनचि) परन्तु अच् परे होने पर नहीं होते।

कार्य का होना और पक्ष में न होना **विकल्प** कहाता है। एक को दो करने का नाम **द्वित्व** है। द्वित्व हो भी और न भी हो, इसे द्वित्व का विकल्प कहते हैं[1]।

'सुध्य्+उपास्य' यहां सकारोत्तर उकार=अच् से परे यर्=धकार को इस सूत्र से विकल्प करके द्वित्व करने से दो रूप बन जाते हैं—

(१) सु ध् ध् य्+उपास्य [जहां द्वित्व होता है]।

(२) सु ध् य्+उपास्य [जहां द्वित्व नहीं होता है]।

अब द्वित्व वाले पक्ष में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१९) झलां जश्झशि ।८।४।५२॥

स्पष्टम्। इति पूर्व-धकारस्य दकारः॥

अर्थः—झश् प्रत्याहार परे होने पर झलों के स्थान पर जश् हो जाता है। इस सूत्र से पूर्व धकार के स्थान पर दकार हो जाता है।

व्याख्या—झलाम् ।६।३। जश् ।१।१। झशि ।७।१। अर्थः—(झशि) झश् प्रत्याहार परे होने पर (झलाम्) झलों के स्थान पर (जश्) जश् हो जाता है। 'झलाम्' पद में **षष्ठी स्थाने-योगा** (१.१.४८) के अनुसार स्थानषष्ठी है। 'झशि' पद सप्तम्यन्त है; अतः **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** (१६) सूत्र के अनुसार झश् से

---

१. ध्यान रहे कि विकल्प के दोनों रूप शुद्ध हुआ करते हैं। इन में से चाहे जिस का प्रयोग करें हमारी इच्छा पर निर्भर है।

अव्यवहित पूर्व झल् को ही जश् होगा; अर्थात् झश् परे होने पर झलों को जश् होगा[1]।

झल् प्रत्याहार में वर्गों के चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय, प्रथम और ऊष्म वर्ण आते हैं। इन के स्थान पर जश् अर्थात् वर्गों के तृतीय वर्ण [ज्, ब्, ग्, ड्, द्] हो जाते हैं, यदि झश् अर्थात् वर्गों के तृतीय या चतुर्थ वर्ण परे हों तो।

'सु ध् ध् य्+उपास्य' यहां द्वित्व वाले पक्ष में इस सूत्र से पूर्व धकार=झल् को जश् होता है, क्योंकि इस से परे परला धकार=झश् विद्यमान है। जश् पांच हैं—१ ज्, २ ब्, ३ ग्, ४ ड्, ५ द्। यहां **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) के अनुसार धकार के स्थान पर दकार=जश् होता है [देखें—**लृ-तु-ल-सानां दन्ताः**]। यथा—

(१) सुद्ध्य्+उपास्य [द्वित्वपक्ष में जश्त्व हो कर]

(२) सुध्य्+उपास्य [द्वित्वाभावपक्ष में]

अब दोनों पक्षों में समान रूप से अग्रिम-सूत्र प्राप्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२०) **संयोगान्तस्य लोपः** ।८।२।२३॥

संयोगान्तं यत् पदं तस्य लोपः स्यात् ॥

अर्थः—जिस पद के अन्त में संयोग हो उस का लोप हो जाता है।

व्याख्या—संयोगान्तस्य ।६।१। पदस्य ।६।१। (यह अधिकार पीछे से आ रहा है)। लोपः ।१।१। समासः—संयोगोऽन्तो यस्य तत्=संयोगान्तम्, बहुव्रीहि-समासः। अर्थः—(संयोगान्तस्य) जिस के अन्त में संयोग है ऐसे (पदस्य) पद का (लोपः) लोप हो जाता है।

पाणिनीय-व्याकरण में **येन विधिस्तदन्तस्य** (१.१.७१) यह भी एक परिभाषा है। इस का भाव यह है कि विशेषण के साथ तदन्त-विधि करनी चाहिये। यथा—**अचो यत्** (७७३) यहां 'धातोः' पद की अनुवृत्ति आ कर 'अचः ।५।१। धातोः ।५।१। यत् ।१।१।' ऐसा हो जाता है। इस में 'अचः' पद 'धातोः' पद का विशेषण है, इस से तदन्त-विधि होकर 'अजन्त धातु से यत् प्रत्यय हो' ऐसा अर्थ बन जाता है। इस नियम के अनुसार यहां यदि 'संयोगस्य लोपः' सूत्र भी बनाते तो भी 'संयोगस्य' पद के 'पदस्य' पद के विशेषण होने के कारण तदन्त-विधि होकर उपर्युक्त अर्थ सिद्ध हो सकता था; पुनः यहां स्पष्ट-प्रतिपत्ति अर्थात् विद्यार्थियों के क्लेश का ध्यान रख अनायास-ज्ञान के लिये ही मुनि ने 'अन्त' पद का ग्रहण किया है।

सुद्ध्य्+उपास्य; सुध्य्+उपास्य इन रूपों में क्रमशः 'सुद्ध्य्' और 'सुध्य्' संयोगान्त पद हैं। **हलोऽनन्तराः संयोगः** (१३) के अनुसार 'द्, ध्, य्' अथवा 'ध्, य्' वर्णों की संयोग-संज्ञा है। **सुँप्तिङन्तं पदम्** (१४) सूत्र द्वारा यहां पद-संज्ञा होती है। यद्यपि इसके अन्त में भिस्=सुँप् लुप्त हो चुका है, तथापि **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्**

---

१. इस कारण परले 'ध्' को जश् नहीं होगा, क्योंकि समक्षस्थित 'य्' झश् नहीं है।

(१६०) द्वारा सुँबन्त के अक्षुण्ण रहने से पद-संज्ञा में कोई दोष नहीं होता। इस प्रकार दोनों पक्षों में सम्पूर्ण संयोगान्त पद का लोप प्राप्त होता है। **अब अग्रिम-**परिभाषा द्वारा केवल अन्त्य के लोप का विधान करते हैं—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—(२१) **अलोऽन्त्यस्य** ।१।१।५१॥

षष्ठी-निर्दिष्टस्यान्त्यस्याल आदेशः स्यात्[1] । इति **यलोपे प्राप्ते**—

अर्थः—आदेश—षष्ठी-निर्दिष्ट के अन्त्य अल् के स्थान पर होता है। इस सूत्र से (दोनों पक्षों में) यकार के लोप के प्राप्त होने पर (अग्रिम वार्त्तिक द्वारा निषेध हो जाता है)।

व्याख्या—स्थाने ।७।१। (**षष्ठी स्थाने-योगा** से)। विधीयमान आदेशः (ये अध्याहार किये जाते हैं)। षष्ठ्या ।३।१। (**षष्ठी स्थानेयोगा** से प्रथमान्त 'षष्ठी' शब्द आ कर तृतीयान्त-रूपेण परिणत हो जाता है)। निर्दिष्टस्य ।६।१। (इस का अध्याहार किया गया है)। अलः ।६।१। अन्त्यस्य ।६।१। अर्थः—(स्थाने) स्थान पर विधान किया आदेश (षष्ठ्या) षष्ठी-विभक्ति से (निर्दिष्टस्य) निर्देश किये गये के (अन्त्यस्य) अन्त्य (अलः) अल् के स्थान पर होता है।

इस का सार यह है कि जो आदेश षष्ठी-निर्दिष्ट के स्थान पर प्राप्त होता है वह उस के अन्तिम अल् को होता है। यथा—**त्यदादीनाम् अः** (१६३) त्यदादियों को 'अ' हो। यहां **षष्ठी स्थाने-योगा** (१.१.४८) सूत्र से सम्पूर्ण त्यदादियों के स्थान पर 'अ' प्राप्त होता है, परन्तु इस परिभाषा (२१) से त्यदादियों के अन्त्य अल् को 'अ' हो जाता है। 'त्यदादीनाम्' यह यहां षष्ठी-निर्दिष्ट है। **रायो हलि** (२१५) हलादि विभक्ति परे होने पर रै शब्द को आकार आदेश होता है। यहां सम्पूर्ण 'रै' के स्थान पर प्राप्त आदेश इस परिभाषा द्वारा अन्त्य अल्=ऐकार को हो जाता है। 'रायः' यह यहां षष्ठी-निर्दिष्ट है। **दिव औत्** (२६४) सुँ परे होने पर दिव् शब्द को औकार आदेश होता है। यहां सम्पूर्ण 'दिव्' के स्थान पर प्राप्त आदेश इस परिभाषा द्वारा अन्त्य अल्=वकार को ही होता है। 'दिवः' यह यहां षष्ठी-निर्दिष्ट है।

संयोगान्तस्य लोपः (२०) संयोगान्त पद का लोप होता है। यहां सम्पूर्ण संयोगान्त पद के स्थान पर प्राप्त लोप इस परिभाषा द्वारा अन्त्य अल् के स्थान पर ही होता है। 'संयोगान्तस्य' यह यहां षष्ठी-निर्दिष्ट है।

यह परिभाषा-सूत्र है, अतः इस का उपयोग रूप-सिद्धि में न हो कर सूत्रार्थ करने में ही होता है। इस की सहायता से **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) सूत्र का यह अर्थ होता है—संयोगान्त पद के अन्त्य अल् का लोप हो जाता है। इस प्रकार—१. सुद्ध्य्+उपास्य। २. सुध्य्+उपास्य। इन दोनों पक्षों में अन्त्य अल् यकार का ही लोप प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम वार्त्तिक से यकार के लोप का भी निषेध हो जाता है।

---

१. अत्र **षष्ठीनिर्दिष्टोऽन्त्यस्याल आदेशः स्यात्** इति क्वाचित्कः पाठोऽपपाठ एव। यतो न ह्यादेशः क्वचित् षष्ठीनिर्दिष्टो भवति।

[लघु०] वा०—(२) **यणः प्रतिषेधो वाच्यः** ॥

सुद्ध्युपास्यः, सुध्युपास्यः । मद्ध्वरिः, मध्वरिः । धात्त्रंशः, धात्रंशः । लाकृतिः ॥

अर्थः—संयोग के अन्त में यणों के लोप का निषेध कहना चाहिये ।

व्याख्या—यह वार्त्तिक **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) सूत्र का है। जिस सूत्र पर जो वार्त्तिक पढ़ा जाता है वह तद्विषयक ही समझा जाता है । **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) सूत्र—संयोगान्त पद के अन्त्य अल् का लोप करता है; अब यदि वे अन्त्य अल् यण् (य्, व्, र्, ल्) होंगे तो उन का लोप न होगा ।

इस प्रकार इस वार्तिक से पूर्वोक्त रूपों में प्राप्त यकार-लोप का निषेध हो जाता है। तब (१) सु द् ध् य्+उपास्य। (२) सु ध् य्+उपास्य। ये दोनों उसी तरह अवस्थित रहते हैं।

हमारी लिपि (देव-नागरी) का नियम है कि **अज्झीनं परेण संयोज्यम्** अर्थात् अच् से रहित हल्, अग्रिम वर्ण के साथ मिला देना चाहिये । इस नियमानुसार हलों का अग्रिम वर्णों के साथ संयोग करके 'सुद्ध्युपास्य' और 'सुध्युपास्य' ये दो रूप बनते हैं। अब समास होने से प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा होकर विभक्ति आने पर 'सुद्ध्युपास्यः', 'सुध्युपास्यः' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।[1]

नोट—'सुधी+उपास्यः' इस प्रकार विसर्ग वाला रूप प्रक्रिया-दशा में रखना अत्यन्त अशुद्ध है, क्योंकि समास में विभक्तियों के लुक् के बाद सन्धि और उसके बाद सुँ आदि प्रत्यय करने उचित होते हैं पूर्व नहीं । अतः यहाँ 'सुधी+उपास्य' ऐसी दशा में प्रथम सन्धि करके 'सुध्युपास्य' बना लेना उचित है, तदनन्तर सुँ प्रत्यय लाकर उस के स्थान पर विसर्ग आदेश करने से 'सुध्युपास्यः' प्रयोग सिद्ध करना चाहिये ।

'मधु+अरि' यहां **इको यणचि** (१५) सूत्र से धकारोत्तर उकार के स्थान पर यण् प्राप्त होता है, पुनः **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) द्वारा ओष्ठ-स्थान के तुल्य होने के कारण उकार के स्थान पर वकार ही हो जाता है—म ध् व्+अरि । अब **अनचि च** (१८) से धकार को वैकल्पिक द्वित्व होकर द्वित्वपक्ष में **झलां जश् झशि** (१९) से आदि धकार को दकार करने पर—१. 'मद्ध्व्+अरि' और २. 'मध्व्+अरि' ये दो रूप बनते हैं। अब इस दशा में दोनों पक्षों में **अलोऽन्त्यस्य** (२१) की सहायता से **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) सूत्र द्वारा वकार के लोप के प्राप्त होने पर **यणः प्रतिषेधो**

---

१. सुधी+उपास्य में **इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च** (५९) से प्रकृति-भाव नहीं होता, **न समासे** (वा० ९) से निषेध हो जाता है । **न भू-सुधियोः** (२०२) से यण्निषेध भी नहीं होता; क्योंकि वह अजादि सुँप् में निषेध करता है । किञ्च—**अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा** इस न्याय से वह **एरनेकाचः**० (२००) के यण् का निषेध कर सकता है, **इको यणचि** (१५) के नहीं ।

वाच्यः वार्त्तिक से उस का निषेध हो जाता है। अब 'सुँ' प्रत्यय लाकर उसके स्थान पर विसर्ग आदेश करने से 'मद्ध्वरिः, मध्वरिः' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'धातृ+अंश' यहां **इको यणचि** (१५) सूत्र से तकारोत्तर ऋकार के स्थान पर यण् प्राप्त होता है, पुनः **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) द्वारा मूर्धा-स्थान के तुल्य होने से ऋकार के स्थान पर रेफ ही आदेश हो जाता है – धात्र्+अंश। अब **अनचि च**(१८) सूत्र से तकार को वैकल्पिक द्वित्व होकर दोनों पक्षों में **अलोऽन्त्यस्य** (२१) की सहायता से **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) सूत्र द्वारा रेफ के लोप के प्राप्त होने पर **यणः प्रतिषेधो वाच्यः** (वा० २) वार्त्तिक से उस का निषेध हो जाता है। अब 'सुँ' प्रत्यय लाकर विसर्ग आदेश करने से 'धात्त्रंशः, धात्रंशः' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'लृ+आकृति' यहां **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) सूत्र की सहायता से **इको यणचि** (१५) सूत्र द्वारा दन्त-स्थान वाले लृकार के स्थान पर तादृश दन्त-स्थानीय लकार आदेश होकर 'सुँ' प्रत्यय लाकर विसर्ग आदेश करने से 'लाकृतिः' प्रयोग सिद्ध होता है।

'सुद्ध्युपास्यः' और 'मद्ध्वरिः' प्रयोगों की सिद्धि एक समान होती है। 'धात्त्रंशः' में जश्त्व की तथा 'लाकृतिः' में द्वित्व और जश्त्व दोनों की प्रवृत्ति नहीं होती।

टिप्पणी—सुधीभिः=विद्वद्भिर् उपास्यः=आराधनीयः सुद्ध्युपास्यो भगवान् विष्णुरित्यर्थः [विद्वानों द्वारा आराधना करने योग्य, भगवान् विष्णु]। मधोः=तदाख्यस्य दैत्यस्य अरिः=शत्रुः मद्ध्वरिः, भगवान् विष्णुः ['मधु' नामक दैत्य को मारने के कारण भगवान् विष्णु 'मद्ध्वरि' कहाते हैं]। धातुः=ब्रह्मणः, अंशः=भागः धात्त्रंशः [ब्रह्मा का भाग]। उल् आकृतिरिव आकृतिः=स्वरूपं यस्य सः=लाकृतिः, वंशी-वादन-समये वक्राकृतिश्श्रीकृष्ण इत्यर्थः [बांसुरी बजाने के समय 'लृ' के समान टेढ़ी आकृति वाले श्रीकृष्ण]।

अभ्यास (२)

(१) अधोलिखित रूपों में सूत्रोपपत्तिपूर्वक सन्धिच्छेद करें—

१. घस्लादेशः। २. मात्राज्ञा। ३. वद्ध्वागमनम्। ४. यद्यपि। ५. लनुबन्धः। ६. कर्त्त्रायुः। ७. शृण्विदम्। ८. करोत्ययम्। ९. लाकारः। १०. पित्रधीनम्। ११. चार्वङ्गी। १२. वार्येति। १३. लादेशः। १४. धात्त्रेतत्। १५. गुर्वाज्ञा। १६. ह्ययम्। १७. गम्लादेशः। १८. त्रसौ। १९. खल्वेहि। २०. दध्यत्र। २१. मद्ध्वानय। २२. अस्त्यनुभवः। २३. कुर्विदम्। २४. भर्त्रादेशः। २५. पुनर्वस्वृक्षः।

(२) निम्नलिखित रूपों में सूत्रोपपत्तिपूर्वक सन्धि करें—

१. शशी+उदियाय। २. सिध्यतु+एतत्। ३. भाति+अम्बरे। ४. धातु+आदेश। ५. पातृ+एतत्। ६. लृ+अङ्ग। ७. शिशु+अङ्ग। ८. नृ+आत्मज। ९. स्मृति+आदेश। १०. अनु+आदेश। ११.

पितृ+अर्चा। १२. अपि+एतत्। १३. वृक्षेषु+अभिलाषः। १४. त्वष्टृ+आकाङ्क्षा। १५. दर्वी+असौ। १६. अभि+उदयः। १७. प्रति+एक। १८. वधू+अलङ्कार। १९. वस्तु+अस्ति। २०. भ्रातृ+उक्त। २१. दधि+अशान। २२. तनु+अङ्गी। २३. स्त्री+उत्सव। २४. देवेषु+आसीत्। २५. मनु+आदि।

(३) 'लाकृतिः' का क्या विग्रह है? 'लृ' शब्द का षष्ठ्येकवचन तथा प्रथमैकवचन क्या बनेगा? अथवा 'लृ' शब्द का उच्चारण लिखें।

(४) प्रसज्य और पर्युदास प्रतिषेधों का तात्पर्य अपनी भाषा में स्पष्ट करते हुए **नायं शशी** और **अश्राद्धभोजी ब्राह्मणः** में कौन-सा निषेध है सोपपत्तिक लिखें।

(५) **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य**, **अलोऽन्त्यस्य** तथा **स्थानेऽन्तरतमः** ये सूत्र यदि न होते तो कौन कौन-सी हानियां होतीं? सोदाहरण स्पष्ट करें।

(६) **अनचि च** सूत्र में कौन सा प्रतिषेध है और वैसा मानने की क्या आवश्यकता है?

(७) संहिता की विवक्षा कहां कहां नित्य और कहां कहां ऐच्छिक हुआ करती है? सप्रमाण सोदाहरण विवेचन करें।

(८) 'सुधी+उपास्य' में **इकोऽसवर्णे०** सूत्र से प्रकृतिभाव क्यों नहीं होता? अथवा **न भू-सुधियोः** से यण्निषेध ही क्यों नहीं होता?

——::०::——

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(२२) एचोऽयवायावः।६।१।७५॥**

एचः क्रमाद् अय्, अव्, आय्, आव् एते स्युरचि॥

अर्थः—अच् परे हो तो एच् के स्थान पर क्रमशः अय्, अव्, आय्, आव् हों।

व्याख्या—एचः।६।१। (**षष्ठी स्थाने-योगा** के अनुसार यहां स्थान-षष्ठी है)। अयवायावः।१।३। अचि।७।१। (**इको यणचि** सूत्र से)। संहितायाम्।७।१। (यह पीछे से अधिकृत है)। समासः—अय् च अव् च आय् च आव् च=अयवायावः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः (अचि) अच् परे होने पर (संहितायाम्) संहिता के विषय में (एचः) एच् के स्थान पर (अयवायावः) अय्, अव्, आय्, आव् हो जाते हैं।

'एच्' प्रत्याहार के मध्य 'ए, ओ, ऐ, औ' ये चार वर्ण आते हैं। इन के स्थान पर 'अय्, अव्, आय्, आव्' ये चार आदेश होते हैं यदि इन से परे अच् अर्थात् स्वर हो तो। 'संहिता' के विषय में पीछे लिख चुके हैं, वही नियम यहां और अन्यत्र सब जगह समझ लेना चाहिये। 'अचि' यहां भाव-सप्तमी है, यह पूर्ववत् **तस्मिन्निति निर्दिष्टेपूर्वस्य** (१६) परिभाषा द्वारा पर-सप्तमी में परिणत हो जाती है। **यहां वृत्ति में** 'क्रमात्' पद **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** (२३) परिभाषा के कारण आया हुआ है। अब इस परिभाषा को स्पष्ट करते हैं—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—(२३) **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्** ।१।३।१०॥

समसम्बन्धी विधिर्यथासंख्यं स्यात् । हरये । विष्णवे । नायकः । पावकः ॥

अर्थः – (संख्या की दृष्टि से) समान सम्बन्ध वाली विधि संख्या के अनुसार हो।

व्याख्या—समानाम् ।६।३। अनुदेशः ।१।१। यथा-सङ्ख्यम् ।१।१। समासः—सङ्ख्याम् अनतिक्रम्येति यथासङ्ख्यम्, अव्ययीभाव-समासः। यहां समानता सङ्ख्या की दृष्टि से अभिप्रेत है। अर्थः—(समानाम्) समान सङ्ख्या वालों का (अनुदेशः) कार्य (यथा-सङ्ख्यम्) सङ्ख्या के अनुसार अर्थात् बारी २ से होता है[1]।

'समानाम्' में **षष्ठी शेषे** (६०१) सूत्र द्वारा सम्बन्ध में षष्ठी हुई है। यदि यहां **कर्तृ-कर्मणोः कृति** (२.३.६५) सूत्र द्वारा कर्म में षष्ठी मानें तो जहां स्थानी के साथ तुल्य सङ्ख्या वालों का विधान किया जायेगा, वहां ही इस सूत्र की प्रवृत्ति हो सकेगी; यथा – **एचोऽयवायावः** सूत्र में। परन्तु जहां विधीयमान सम-सङ्ख्यक न होंगे किन्तु प्रकारान्तर से समान सङ्ख्या होती होगी वहां इस सूत्र की प्रवृत्ति न हो सकेगी; यथा— **समूलाकृतजीवेषु हन्कृञ्ग्रहः** (३.४.३६) यहां विधीयमान 'णमुल्' एक है, इस की किसी के साथ समान सङ्ख्या नहीं है; तीन उपपदों की तीन धातुओं के साथ समान सङ्ख्या है। यहां यदि यथासङ्ख्य नहीं करते तो अनिष्ट हो जाता है। अतः 'समानाम्' पद में कर्मणि-षष्ठी न मान कर शेष-षष्ठी मानना ही युक्त है।

एचोऽयवायावः (२२) सूत्र द्वारा विहित 'अय्, अव्, आय्, आव्' यह आदेश रूप विधि सम-विधि है; क्योंकि एच् (ए, ओ, ऐ, औ) भी चार हैं और अय्, अव्, आय्, आव् ये आदेश भी चार हैं। अतः इस परिभाषा द्वारा यह विधि बारी २ अर्थात् पहले को पहला, दूसरे को दूसरा, तीसरे को तीसरा और चौथे को चौथा इस ढंग से होगी। 'ए' पहले को पहला अय्, 'ओ' दूसरे को दूसरा अव्, 'ऐ' तीसरे को तीसरा आय् तथा 'औ' चौथे को चौथा आव् होगा। इन सब के क्रमशः उदाहरण यथा—

हरे + ए = हर् अय् + ए = हरये। विष्णो + ए = विष्ण् अव् + ए = विष्णवे।

इन दोनों उदाहरणों में 'हरि' और 'विष्णु' शब्दों से चतुर्थी का एकवचन 'ङे' आने पर ङकार अनुबन्ध का लोप हो **घेर्ङिति** (१७२) सूत्र से गुण हो जाता है।

नै + अक = न् आय् + अक = नायकः। पौ + अक = प् आव् + अक = पावकः।

इन दोनों उदाहरणों में 'नी' और 'पू' धातुओं से 'ण्वुल्' प्रत्यय लाने पर अनुबन्धों का लोप तथा 'वु' के स्थान पर अकादेश होकर **अचो ञ्णिति** (१८२) सूत्र

---

१. यद्यपि **इको यणचि** (१५) में भी इस परिभाषा से काम चलाया जा सकता था तथापि इक् (अविधीयमान होने से सवर्णों सहित) ६६ हैं और यण् (विधीयमान होने से) केवल चार, कैसे यथासंख्य हो ? इस दृष्टि के आश्रयण से वहां **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) की प्रवृत्ति दर्शाई गई थी। वस्तुतः जाति के आश्रयण से चार इकों को क्रमशः चार यण् हो सकते हैं कोई दोष नहीं आता। परन्तु तब भी 'वाग्घरिः' आदि प्रयोगों के लिये **स्थानेऽन्तरतमः** परिभाषा का होना तो आवश्यक है ही।

से क्रमशः ईकार ऊकार को ऐकार औकार वृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार भावुकः, चयनम्, गायनः, पवनः आदि प्रयोगों में भी अयादि-प्रक्रिया समझ लेनी चाहिये।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२४) वान्तो यि प्रत्यये ।६।१।७६॥

यकारादौ प्रत्यये परे ओदौतोर् अव् आव् एतौ स्तः। गव्यम्। नाव्यम्॥

अर्थः—यकारादि प्रत्यय परे होने पर 'ओ' को अव् तथा 'औ' को आव् आदेश हो जाता है।

व्याख्या—वान्तः ।१।१। यि ।७।१। प्रत्यये ।७।१। मुनिवर पाणिनि के **येन विधिस्तदन्तस्य** (१.१.७१) नियम का **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** यह वार्तिक अपवाद है। इस का अभिप्राय यह है कि सप्तम्यन्त एकाल् विशेषण से तदन्तविधि न हो किन्तु तदादिविधि हो। यहां 'यि' यह सप्तम्यन्त एकाल् है और 'प्रत्यये' का विशेषण है, अतः इस से तदादिविधि होकर 'यादौ प्रत्यये' ऐसा बन जायेगा। समासः—वः अन्ते यस्य सः=वान्तः, वकारादकार उच्चारणार्थः, बहुव्रीहि-समासः। जिस के अन्त में 'व्' हो उसे वान्त कहते हैं। यहां वान्त से अभिप्राय पूर्व-सूत्र-पठित अव्, आव् आदेशों से है। यहां स्थानी **ओदौतोश्चेति वक्तव्यम्** वार्तिक से ओ और औ समझने चाहियें। अर्थः—(यि=यादौ) जिस के आदि में 'य्' हो ऐसे (प्रत्यये) प्रत्यय के परे होने पर (वान्तः) 'ओ' और 'औ' के स्थान पर अव् और आव् आदेश हो जाते हैं। इन के उदाहरण यथा—

'गो+य' [यहां 'गो' से **गोपयसोर्यत्** (४.३.१५८) द्वारा 'यत्' प्रत्यय होता है] यहां 'य' यह यकारादि प्रत्यय परे है अतः गकारोत्तर ओकार के स्थान पर अव् आदेश हो—ग् अव्+य=गव्य। अब विभक्ति लाने से 'गव्यम्' प्रयोग सिद्ध होता है। गोर्विकारः=गव्यम्, दुग्ध-दध्यादिकमित्यर्थः। दूध, दही आदि गौ के विकार 'गव्य' कहाते हैं।

'नौ+य' [यहां 'नौ' से तार्य='तरने योग्य' अर्थ में **नौ-वयो-धर्म०** (४.४.९१) सूत्र से यत् प्रत्यय होता है] यहां 'य' यह यकारादि प्रत्यय परे है अतः नकारोत्तर औकार के स्थान पर आव् आदेश होकर विभक्ति लाने से 'नाव्यम्' प्रयोग सिद्ध होता है। नावा तार्यम् नाव्यं जलम्, नौका से तरने योग्य जल को 'नाव्य' कहते हैं। यथा—गङ्गायां नाव्यं जलं वर्त्तते।

इन उदाहरणों में 'अच्' परे न होने के कारण **एचोऽयवायावः** (२२) सूत्र से काम नहीं चल सकता था अतः यह सूत्र बनाना पड़ा है।

ध्यान रहे कि यकारादि प्रत्यय परे न होने पर इस सूत्र की प्रवृत्ति न होगी। यथा—गोयानम्, नौयानम्। यहां वान्त आदेश नहीं होते।

[लघु०] वा०—(३) अध्वपरिमाणे च॥

गव्यूतिः॥

अर्थः—'गो' शब्द से 'यूति' शब्द परे होने पर ओकार को वान्त (अव्) आदेश हो जाता है; यदि समुदाय से मार्ग का परिमाण (माप) अर्थ ज्ञात हो तो।

व्याख्या—गोः ।६।१। यूतौ ।७।१। (**गोर्यूतौ छन्दस्युपसङ्ख्यानम्** वार्त्तिक से)। वान्तः ।१।१। (**वान्तो यि प्रत्यये** से) । अध्व-परिमाणे ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । अर्थः—(यूतौ) 'यूति' शब्द परे होने पर (गोः) 'गो' शब्द के ओकार के स्थान पर (वान्तः) 'अव्' आदेश हो (अध्व-परिमाणे) मार्ग के परिमाण अर्थात् माप के गम्यमान होने पर। उदाहरण यथा—

गो+यूति=ग् अव्+यूति=गव्यूतिः। इस का अर्थ 'दो कोस' है। **गव्यूतिः स्त्री क्रोशयुगम्**—इत्यमरः। जहां मार्ग-परिमाण अर्थ न होगा वहां 'गोयूतिः' बनेगा। यहां पर यकारादि प्रत्यय न होने मे यह वार्त्तिक बनाना पड़ा है।

अभ्यास (३)

(१) निम्न-लिखित रूपों में सन्धिच्छेद कर के सूत्रों द्वारा उसे सिद्ध करें—
१. वटवृक्षः[1]। २. ग्लायति। ३. भवति। ४. गणयति। ५. माण्डव्यः[2]। ६. स्तावकः। ७. नयति। ८. गायन्ति। ९. नाविकः। १०. शयनम्। ११. जयः। १२. असावुत्तुङ्गः। १३. औपगवः। १४. चयः। १५. त्रिक्षाय। १६. अलावीत्। १७. पवनः। १८. नयः। १९. त्रायते। २०. कवये। २१. क्षयः। २२. मनवे। २३. रायौ। २४. पपावसाविह। २५. द्रवति।

(२) निम्न-लिखित रूपों में सन्धि कर के सूत्रों द्वारा उसे सिद्ध करें—
१. असौ+अयम्। २. असे+ए। ३. चे+अन। ४. लो+अन। ५. चोरे+अति। ६. भौ+उक। ७. गै+अक। ८. साधो+ए। ९. शङ्को+य[3]। १०. अग्नौ+इह। ११. भौ+अथति। १२. पो+इत्र। १३. शे+आन। १४. भो+अन। १५. ग्लौ+औ। १६. बाभ्रो+य[4]। १७. गो+यूति। १८. बालौ+अत्र। १९. इन्दौ+उदिते। २०. पूजार्हौ+अरिसूदन।

(३) **एचोऽयवायावः** में 'अचि' पद न लाते तो कौन सा दोष उत्पन्न हो जाता?

(४) **यथा-सङ्ख्यमनु०** की व्याख्या करते हुए 'समानाम्' पद पर प्रकाश डालें।

(५) **वान्तो यि प्रत्यये** और **अध्व-परिमाणे च** के निर्माण का प्रयोजन बताएं।

——: :०: :——

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(२५) **अदेङ् गुणः** ।१।१।२॥

अद् एङ् च गुण-सञ्ज्ञः स्यात् ॥

अर्थः—अ, ए, ओ—इन तीन वर्णों की 'गुण' संज्ञा होती है।

---

१. 'वटो+ऋक्षः' इतिच्छेदः।
२. मण्डुशब्दाद् गोत्रापत्ये **गर्गादिभ्यो यञ्** (१००८) इति यञि, ञित्त्वादादिवृद्धौ **ओर्गुणः** (१००५) इति गुणः।
३. शङ्कुशब्दात् **तस्मै हितम्** (५.१.५) इति विषय **उगवादिभ्यो यत्** (५.१.२) इति यत्।
४. बभ्रुशब्दाद् अपत्येऽर्थे **मधु-बभ्र्वोर्ब्राह्मण-कौशिकयोः** (४.१.१०६) इति यञ्।

व्याख्या—अत् ।१।१। एङ् ।१।१। गुणः ।१।१। अर्थः—(अत्, एङ्) अ, ए, ओ ये तीन वर्ण (गुणः) गुण-सञ्ज्ञक होते हैं । इस सूत्र पर जो वक्तव्य है वह अग्रिम सूत्र पर लिखा जायेगा ।

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(२६) **तपरस्तत्कालस्य ।१।१।६९॥**

तः परो यस्मात् स च, तात् परश्चोच्चार्यमाणसमकालस्यैव सञ्ज्ञा स्यात् ॥

अर्थः—'त्' जिस से परे है और 'त्' से जो परे है वह अपने सदृश काल वालों की सञ्ज्ञा होता है ।

व्याख्या—तपरः ।१।१। तत्कालस्य ।६।१। स्वस्य ।६।१। (**स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसञ्ज्ञा** से विभक्ति-विपरिणाम करके) । समासः—तात् परः=तपरः, पञ्चमी-तत्पुरुषः । तः परो यस्मादसौ तपरः, बहुव्रीहि-समासः । तस्य=तपरत्वेनोच्चार्यमाणस्य काल इव कालो यस्य स तत्कालः, तस्य=तत्कालस्य, बहुव्रीहि-समासः । अर्थः—(तपरः) 'त्' जिस से परे है और 'त्' से जो परे है वह (तत्कालस्य) अपने काल के समान काल वालों की तथा (स्वस्य) अपनी सञ्ज्ञा होता है ।

अणुदित् सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः (११) सूत्र द्वारा अण् अपने तथा अपने सवर्णों के बोधक होते हैं; यह पीछे कह चुके हैं । यह सूत्र उस का अपवाद (निषेध करने वाला) है । जिस के आगे या पीछे 'त्' लगाया जाये वह केवल अपना तथा अपने काल के सदृश काल वाले सवर्णों का ही ग्राहक हो अन्य सवर्णों का न हो; यही इस सूत्र का तात्पर्य है । यथा **अदेङ् गुणः** (२५) यहां 'अ' तपर है, क्योंकि इस से परे 'त्' है; एवम् 'एङ्' भी तपर है, क्योंकि यह 'त्' से परे है । अब यहां 'अ' और 'एङ्' ये दोनों तपर अण्-प्रत्याहार के अन्तर्गत होते हुए भी **अणुदित् सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः** (११) सूत्र द्वारा अपने सम्पूर्ण सवर्णों का ग्रहण न करायेंगे, किन्तु उन्हीं सवर्णों का ग्रहण करायेंगे जिन का काल इन के साथ तुल्य होगा । 'अ' यह एक-मात्रिक है, अतः यह अपने एक-मात्रिक सवर्णों का ही बोधक होगा दीर्घादियों का नहीं । 'एङ्' अर्थात् 'ए', 'ओ' द्वि-मात्रिक हैं, अतः ये अपने द्विमात्रिक सवर्णों के ही बोधक होंगे प्लुतों के नहीं । तात्पर्य यह हुआ कि तपर 'अ'—केवल अपने समकाल वाले छः ह्रस्व-भेदों का ही ग्राहक होगा सम्पूर्ण अठारह भेदों का नहीं । इसी प्रकार तपर 'ए, ओ'—केवल अपने समकाल वाले छः दीर्घ भेदों के ही ग्राहक होंगे सम्पूर्ण बारह भेदों के नहीं । एवम् तपर इ, उ, ऋ, आ, ई आदियों में भी समझ लेना चाहिये ।[1]

---

१. ध्यान रहे कि इस तपर से अतिरिक्त विभक्ति-तपर भी हुआ करता है । यथा **आद् गुणः** (२७) यहां पर 'आत्' यह 'अ' शब्द की पञ्चमी का 'त्' है; अतः यहां पर ह्रस्व (उपेन्द्रः) दीर्घ (रमेशः) दोनों अकारों का ग्रहण हो जाता है । इस में **उपसर्गादृति धातौ** (३७) सूत्र ज्ञापक है । 'उपसर्गात्' यहां पञ्चमी का 'त्' है; यदि यहां पर भी **तपरस्तत्कालस्य** (२६) का उपयोग करते हैं, तो फिर उस से परे स्थित 'ऋ' में तपर-ग्रहण व्यर्थ हो जाता है ।

तो अब **अदेङ् गुणः** (२५) सूत्र का यह अर्थ हुआ—ह्रस्व अकार, दीर्घ एकार तथा दीर्घ ओकार गुण-सञ्ज्ञक होते हैं। अब अग्रिम-सूत्र में गुण-सञ्ज्ञा का उपयोग दिखाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् –(२७) **आद् गुणः** ।६।१।८४।।

अवर्णादचि परे पूर्व-परयोरेको गुण आदेशः स्यात् । उपेन्द्रः । गङ्गोदकम् ।।

अर्थः—अवर्ण से अच् परे होने पर पूर्व+पर के स्थान पर एक गुण आदेश हो जाता है ।

व्याख्या—अष्टाध्यायी के छठे अध्याय के प्रथम-पाद में **एकः पूर्व-परयोः** (६.१.८१) यह अधिकार-सूत्र है, इस का अधिकार **ख्यत्यात्परस्य** (६.१.१०८) सूत्र के पूर्व तक जाता है। इस अधिकार[1] में 'पूर्व पर दोनों के स्थान पर एक आदेश होता है'। यह **आद् गुणः** (२७) सूत्र भी इसी अधिकार में पढ़ा गया है। आत् ।५।१। अचि ।७।१। (**इको यणचि** से)। पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। (**एकः पूर्व-परयोः** यह अधिकृत है)। गुणः ।१।१। अर्थः —(आत्) अवर्ण से (अचि) अच् परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व और पर के स्थान पर (एकः) एक (गुणः) गुण आदेश होता है।

अवर्ण से अवर्ण परे होने पर **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) तथा अवर्ण से 'ए, ओ, ऐ, औ' परे होने पर **वृद्धिरेचि** (३३) सूत्र इस गुण का बाध कर लेते हैं, अतः अवर्ण से इकार, उकार, ऋकार तथा लृकार परे होने पर ही गुण प्रवृत्त होता है।

उदाहरण यथा—उपेन्द्रः (विष्णु)। 'उप+इन्द्र' यहां पकारोत्तर अवर्ण से परे 'इन्द्र' का आदि अच् 'इ' विद्यमान है, अतः पूर्व=अवर्ण तथा पर=इवर्ण दोनों के स्थान पर प्रकृत **आद् गुणः** (२७) सूत्र द्वारा एक गुण प्राप्त होता है। **अदेङ् गुणः** (२५) सूत्र के अनुसार 'अ, ए, ओ' ये तीन गुण हैं। अब इन तीनों में से कौन सा गुण 'अ+इ' के स्थान पर किया जाये? इस शङ्का के उत्पन्न होने पर **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) सूत्र से स्थान-कृत आन्तर्य द्वारा 'अ+इ' के स्थान पर 'ए' गुण हो जाता है

---

१. इस अधिकार के २१ सूत्र **लघुसिद्धान्तकौमुदी** में प्रयुक्त किये गये हैं। तथाहि—१. **अन्तादिवच्च** (४१); २. **आद् गुणः** (२७); ३. **वृद्धिरेचि** (३३); ४. **एत्येधत्यूठ्सु** (३४); ५. **आटश्च** (१९७); ६. **उपसर्गादृति धातौ** (३७); ७. **औतोम्शसोः** (२१४); ८. **एङि पर-रूपम्** (३८); ९. **ओमाङोश्च** (४०); १०. **उस्यपदान्तात्** (४९२); ११. **अतो गुणे** (२७४); १२. **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२); १३. **प्रथमयोः पूर्व-सवर्णः** (१२६); १४. **तस्माच्छसो नः पुंसि** (१३७); १५. **नादिचि** (१२७); १६. **दीर्घाज्जसि च** (१९२); १७. **अमि पूर्वः** (१३५); १८. **सम्प्रसारणाच्च** (२५८); १९. **एङः पदान्तादति** (४३); २०. **ङसि-ङसोश्च** (१७३); २१. **ऋत उत्** (२०८); इन सूत्रों को सदा ध्यान में रखना चाहिये।

['अ+इ' का स्थान 'कण्ठ+तालु' है, गुणों में कण्ठ+तालु स्थान वाला 'ए' ही है]। उप् 'ए' न्द्र='उपेन्द्रः'[1] प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

गङ्गोदकम् (गङ्गा का जल)। 'गङ्गा+उदक' यहां गकारोत्तर 'आ' अवर्ण है, इस से परे 'उदक' का आदि 'उ' अच् विद्यमान है। 'आ+उ' का स्थान 'कण्ठ+ओष्ठ' है। तीनों गुणों में 'कण्ठ+ओष्ठ' स्थान 'ओ' का ही है, अतः पूर्व=आ और पर=उ इन दोनों के स्थान पर[2] **आद् गुणः** (२७) द्वारा 'ओ' यह एक गुण आदेश हो कर--गङ्ग् 'ओ' दक='गङ्गोदकम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

अवर्ण से ऋ, लृ परे वाले उदाहरणों में **उरण्रपरः** (२९) सूत्र का उपयोग किया जाता है; वह सूत्र 'रँ' प्रत्याहार के आश्रित है, अतः प्रथम 'रँ' प्रत्याहार की सिद्धि के लिये 'इत्' सञ्ज्ञा करने वाला सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(२८) उपदेशेऽजनुनासिक इत् ।१।३।२॥

उपदेशेऽनुनासिकोऽज् इत्सञ्ज्ञः स्यात्। प्रतिज्ञाऽऽनुनासिक्याः पाणिनीयाः। 'लँण्' (प्रत्याहारसूत्र ६) सूत्रस्थावर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयोः सञ्ज्ञा॥

अर्थः—जो अच् उपदेश अवस्था में अनुनासिक हो, उस की इत् सञ्ज्ञा होती है। **प्रतिज्ञेति**—पाणिनि के वर्ण प्रतिज्ञा अर्थात् गुरु-परम्परा के उपदेश से अनुनासिक धर्म वाले हैं। **लँण् इति**—'लँण्' सूत्र में स्थित लकारोत्तर अवर्ण (अन्त्य) के साथ युक्त हुआ रेफ (आदि) र् और ल् वर्णों की सञ्ज्ञा होता है।

व्याख्या—उपदेशे ।७।१। अच् ।१।१। अनुनासिकः ।१।१। इत् ।१।१। अर्थः--(उपदेशे) उपदेश अवस्था में (अनुनासिकः) अनुनासिक (अच्) अच् (इत्) इत्-सञ्ज्ञक होता है। महामुनि पाणिनि ने अपने व्याकरण में अनुनासिक अचों पर (ँ) इस प्रकार का चिह्न किया था[3], परन्तु अब वह अनुनासिक-पाठ परिभ्रष्ट हो गया है।

---

१. जब समासादि में सन्धि हो चुकती है तब विभक्ति की उत्पत्ति हुआ करती है—यह हम पीछे लिख चुके हैं, सर्वत्र नहीं लिखेंगे।

२. यद्यपि 'गङ्गा+उदक' में 'आ+उ' स्थानी के त्रिमात्र होने से आदेश 'ओ' भी सदृशतम त्रिमात्र होना चाहिये तथापि **अदेङ् गुणः** (२५) में एङ् के तपर होने से द्विमात्र 'ओ' ही गुण एङ् हो जाता है। यह पूर्व-सूत्र में सङ्केतित कर आये हैं।

३. जैसे 'एधँ वृद्धौ, गम्लृँ गतौ, यजँ देवपूजा-सङ्गतिकरण-दानेषु' इन में अनुनासिक के चिह्न होने से ये अच् पाणिनि को 'इत्' अभीष्ट हैं। अनुदात्तेत् होने से एध् धातु आत्मनेपदी और स्वरितेत् होने से यज् धातु उभयपदी है। 'गम्लृँ' धातु में लृकार न अनुदात्त है और न स्वरित अतः अवशिष्ट उदात्त है, उदात्तेत् होने से गम् धातु परस्मैपदी है। इत्-सञ्ज्ञा किसी प्रयोजन के लिये होती है। प्रयोजना-

अतः अब अनुनासिक जानने की व्यवस्था इस प्रकार समझनी चाहिये—**प्रतिज्ञाऽऽनुनासिक्याः पाणिनीयाः।** पाणिनीयाः = पाणिनिना प्रोक्ता वर्णाः, प्रतिज्ञया = गुरुपरम्परोपदेशेन आनुनासिक्याः = अनुनासिक-धर्मवन्तः सन्तीति शेषः। अर्थः—पाणिनि से कहे गये वर्ण गुरु-परम्परा के उपदेशानुसार अनुनासिक धर्म वाले जानने चाहियें। तात्पर्य यह है कि अनुनासिक के विषय में अब तक आ रही गुरु-परम्परा का आश्रय करना ही युक्त है; गुरुपरम्परा से जो जो अनुनासिक चला आ रहा है उसे अनुनासिक और जो अनुनासिक नहीं माना जा रहा उसे अनुनासिक न मानना ही ठीक है।

इस सूत्र से **लँण्** इस छठे प्रत्याहारसूत्र में लकारोत्तर अकार की इत् सञ्ज्ञा हो जाती है; क्योंकि गुरु-परम्परा से **लँण्मध्ये त्वित्सञ्ज्ञकः** ऐसा प्रवाद चला आ रहा है अतः यह अनुनासिक 'लँण्' इस रूप में है। इस अन्त्य इत् = अकार के साथ **हयवरट्** (प्रत्याहार० ५)सूत्र का 'र्' [देखो—**हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः**] मिलाने से र् + अँ = 'रँ' प्रत्याहार बन जाता है, इस 'रँ' प्रत्याहार के अन्तर्गत 'र्' और 'ल्' ये दो वर्ण आते हैं। टकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्-सञ्ज्ञक है अतः मध्यवर्त्ती होने पर भी उस का ग्रहण नहीं होता।

अब इस 'रँ' प्रत्याहार का अग्रिम-सूत्र में उपयोग बतलाते हैं—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—(२९) उरण्रपरः ।१।१।५०॥

'ऋ इति त्रिंशतः सञ्ज्ञा' इत्युक्तम्; तत्स्थाने योऽण् स रँपरः सन्नेव प्रवर्त्तते। कृष्णर्द्धिः। तवल्कारः॥

अर्थः—'ऋ' यह तीस की सञ्ज्ञा है; यह हम पीछे [**अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः** (११) सूत्र पर] कह चुके हैं। उस तीस प्रकार वाले 'ऋ' के स्थान पर यदि अण् आदेश करना हो तो वह 'रँ' प्रत्याहार परे वाला ही प्रवृत्त होता है।

व्याख्या—उः ।६।१। ('ऋ' शब्द के षष्ठी के एकवचन में 'पितुः' के समान 'उः' प्रयोग बनता है)। अण् ।१।१। रँपरः ।१।१। समासः—रँः परो यस्माद् असौ रँपरः, बहुव्रीहि-समासः। अर्थः—(उः) 'ऋ' वर्ण के स्थान पर (अण्) अण् अर्थात् अ, इ, उ (रँपरः) 'रँ' प्रत्याहार परे वाले होते हैं! **अणुदित् सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः** (११) सूत्र पर 'ऋ' की तीस सञ्ज्ञाओं का प्रतिपादन कर चुके हैं; उस 'ऋ' के स्थान पर यदि अण् (अ इ उ) आदेश होगा तो वह 'रँ' प्रत्याहार परे वाला अर्थात् उस से परे र् और ल् वर्ण भी होंगे। यथा—अर्, अल्, आर्, आल्, इर्, इल्, उर्, उल् इत्यादि। उदाहरण यथा—

भाव में अच् उच्चारणार्थक ही माना जाता है। कुछ लोग सुखोच्चारण को भी एक प्रयोजन मान कर वहां पर भी इत्संज्ञा की प्रवृत्ति स्वीकार करते हैं। हम ने इस व्याख्या में गुरुपरम्परागत इन अनुनासिक चिह्नों को यथावत् अङ्कित करने का प्रथम प्रयास किया है। आशा है विद्यार्थियों को इस से सुविधा होगी।

कृष्णर्द्धिः (कृष्ण की समृद्धि)। 'कृष्ण+ऋद्धि' यहां णकारोत्तर अवर्ण से परे ऋकार=अच् के विद्यमान होने से **आद् गुणः** (२७) सूत्र-द्वारा पूर्व+पर के स्थान पर एक गुण प्राप्त होता है। 'अ+ऋ' का स्थान 'कण्ठ+मूर्धा' है। तीनों गुणों में 'कण्ठ' स्थान तो सब का मिलता है पर मूर्धा-स्थान किसी का नहीं मिलता। अब यदि पूर्व+पर के स्थान पर 'अ' गुण करें तो प्रकृतसूत्रद्वारा उस से परे 'रँ' प्रत्याहार प्राप्त हो जाता है। 'रँ' प्रत्याहार में र् और ल् दो वर्ण आते हैं; **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) द्वारा 'ऋ' के स्थान पर अण् करने पर उस से परे 'र्' और 'लृ' के स्थान पर अण् करने पर उस से परे 'ल्' भी साथ में प्रवृत्त हो जाता है। यहां पूर्व+पर के स्थान पर एकादेश होने से 'ऋ' के स्थान पर अण् (अ) करना है, अतः उस से परे 'र्' भी हो जाता है। इस प्रकार 'अर्' का स्थान 'कण्ठ+मूर्धा' होने से स्थानी और आदेश तुल्य हो जाते हैं। तो अब 'अर्' एकादेश करने से— कृष्ण् 'अर्' द्धि='कृष्णर्द्धिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]।

तवल्कारः (तेरा लृकार)। 'तव+लृकारः' यहां **आद् गुणः** (२७) से गुण एकादेश प्राप्त होने पर **उरण्रपरः** (२९) से 'रँ' प्रत्याहार भी परे प्राप्त होता है। अब **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) सूत्र से कण्ठ+दन्त स्थान वाले 'अ+लृ' के स्थान पर तादृश लपर अण् होकर तव् 'अल्' कारः='तवल्कारः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अभ्यास (४)

(१) निम्नलिखित रूपों में सन्धिच्छेद कर उसे सूत्रों द्वारा सिद्ध करें—
१. गजेन्द्रः। २. परीक्षोत्सवः। ३. वसन्तर्त्तुः। ४. रमेशः। ५. सूर्योदयः। ६. गणेशः। ७. देवर्षिः। ८. ममल्कारः। ९. हितोपदेशः। १०. तथेति। ११. अत्यन्तोर्ध्वम्। १२. परमोत्तमः। १३. नेति। १४. यथेच्छम्। १५. उमेशः। १६. महर्षिः। १७. यज्ञोपवीतम्। १८. महेष्वासः। १९. विकलेन्द्रियः। २०. तवोत्साहः। २१. वेदर्क्। २२. दयोदयोज्ज्वलः। २३. उत्तमर्णः। २४. प्रेक्षते। २५. गुडाकेशः।

(२) अधोलिखित प्रयोगों में उपपत्ति-पूर्वक सूत्रों द्वारा सन्धि करें—
१. महा+ईश। २. कण्ठ+उच्चारण। ३. राम+इतिहास।

---

१. **जलतुम्बिकान्यायेन रेफस्योर्ध्वगमनम्**—जैसे जल में तुम्बी (शुष्क लौकी) डालने पर वह ऊपर ही ऊपर आ जाती है वैसे देवनागरी लिपि में हल् अर्थात् व्यञ्जन के परे रहते रेफ का भी सदा ऊर्ध्वगमन होता है। जैसे—अर्+थ=अर्थ। आर्+य=आर्य। ध्यान रहे कि यह रेफ अपने से आगे सस्वर व्यञ्जन के सिर पर ही चढ़ता है चाहे वह व्यञ्जन उस शब्द में कितनी भी दूर क्यों न हो। यथा— मूर्+च्छना=मूर्च्छना। कार्+त्स्न्य=कार्त्स्न्य। कहा भी है—

तुम्बिकातृणकाष्ठं च तैलं जलमुपागतम्।
स्वभावादूर्ध्वमायाति रेफस्यैतादृशी गतिः॥

४. न+उपलब्धिः । ५. भाष्यकार+इष्टि । ६. परम+उपकारक । ७. स्वच्छ+उदक । ८. सतत+उद्यत । ९. तव+लृदन्तः । १०. ग्रीष्म+ऋतु । ११. सप्त+ऋषि । १२. मम+लृवर्णः । १३. अधम+ऋण । १४. आ+उदकान्तात् । १५. पाप+ऋद्धि ।

(३) **उरण्रपरः** में अण् किस णकार से गृहीत होता है और क्यों ?

(४) 'ऋ' की तीस सञ्ज्ञाओं का उल्लेख करें ।

(५) 'रँ' प्रत्याहार की ससूत्र सिद्धि लिख कर तदन्तर्गत वर्णों को लिखते हुए 'रँ' प्रत्याहार को स्वीकार करने का प्रयोजन भी स्पष्ट करें ।

(६) अनुनासिक जानने की आजकल क्या व्यवस्था है ? सविस्तर लिखें ।

(७) तपर करने का प्रयोजन सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(८) **आद् गुणः** सूत्र किस २ सूत्र का अपवाद है; सोदाहरण लिखें ।

——: :o: :——

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३०) **लोपः शाकल्यस्य ।८।३।१९।।**

अवर्ण-पूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्लोपो वाऽशि परे ।।

अर्थः—अश् प्रत्याहार परे होने पर अवर्ण पूर्व वाले पदान्त यकार वकार का विकल्प कर के लोप हो जाता है ।

व्याख्या—अ-पूर्वयोः ।६।२। (**भो-भगो-अघो-अ-पूर्वस्य योऽशि** से 'अ-पूर्वस्य' अंश की अनुवृत्ति आकर वचन-विपरिणाम हो जाता है) । व्योः ।६।२। (**व्योर्लघु-प्रयत्नतरः शाकटायनस्य** से) । पदान्तयोः ।६।२। (**पदस्य** यह पीछे से अधिकार चला आ रहा है । 'व्योः' का विशेषण होने से इस से तदन्त-विधि हो कर वचन-विपरिणाम से द्विवचन हो जाता है) । लोपः ।१।१। शाकल्यस्य ।६।१। अशि ।७।१। (**भो-भगो-अघो-अ-पूर्वस्य योऽशि** से) । समासः—अः=अवर्णः पूर्वो याभ्यां तौ=अ-पूर्वौ, तयोः=अपूर्वयोः, बहुव्रीहि-समासः । व् च य् च=व्यौ, तयोः=व्योः, इतरेतर-द्वन्द्वः । अर्थः—(अ-पूर्वयोः) अवर्ण पूर्व वाले (पदान्तयोः) पदान्त (व्योः) वकार यकार का (अशि) अश् परे होने पर (लोपः) लोप हो जाता है । (शाकल्यस्य) यह कार्य शाकल्याचार्य का है । यह लोप **शाकल्याचार्य**—जो पाणिनि से पूर्व व्याकरण के एक महान् आचार्य हो चुके हैं—के मत में होता है; पाणिनि के मत में नहीं । हमें दोनों आचार्य प्रमाण हैं अतः विकल्प से लोप होगा । उदाहरण यथा—

'हरे+इह', 'विष्णो+इह' यहां 'हरे' और 'विष्णो' पद सम्बोधन के एकवचनान्त होने से **सुँप्तिङन्तं पदम्** (१४) के अनुसार पद-सञ्ज्ञक हैं । इन दोनों में **एचोऽयवायावः** (२२) सूत्र से क्रमशः एकार को अय् और ओकार को अव् आदेश हो कर—'हर् अय्+इह' 'विष्ण् अव्+इह' बन जाते हैं । अब पुनः दोनों रूपों में 'इह' के आदि इकार=अश् के परे होने पर पदान्त यकार वकार का प्रकृतसूत्र (३०) द्वारा विकल्प से लोप हो कर लोपपक्ष में—'हर् अ+इह; विष्ण् अ+इह' तथा लोप के अभाव में—'हरय्+इह; विष्णव्+इह' बना । अब लोप-पक्ष के रूपों में **आद् गुणः**

(२७) सूत्र द्वारा 'अ+इ' के स्थान पर 'ए' तथा 'अ+उ' के स्थान पर 'ओ' गुण एकादेश प्राप्त होता है। इस पर इस के निवारणार्थ अग्रिम-सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] अधिकार-सूत्रम्—(३१) पूर्वत्राऽसिद्धम् ।८।२।१।।

सपाद-सप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा, त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धम् । हर इह; हरयिह । विष्ण इह; विष्णविह ।।

अर्थः—सवा सात अध्यायों के प्रति त्रिपादी-सूत्र असिद्ध होते हैं और त्रिपादी सूत्रों में भी पूर्वशास्त्र के प्रति पर-शास्त्र असिद्ध होता है।

व्याख्या—अष्टाध्यायी में आठ अध्याय और प्रत्येक अध्याय में चार चार पाद हैं; यह सब पीछे सञ्ज्ञा-प्रकरण में विस्तार-पूर्वक स्पष्ट कर चुके हैं। सात अध्याय सम्पूर्ण और आठवें अध्याय के प्रथम-पाद के व्यतीत होने पर आठवें अध्याय के दूसरे पाद का यह प्रथम-सूत्र है। यह अधिकार-सूत्र है। अधिकारसूत्र स्वयं कुछ नहीं किया करते किन्तु अग्रिम-सूत्रों में अनुवृत्ति के लिये हुआ करते हैं। इन की अवधि (हद्) निश्चित हुआ करती है। इस सूत्र का अधिकार यहां से लेकर **अ अ** (८.४.६७) सूत्र अर्थात् अष्टाध्यायी के अन्तिमसूत्र तक जाता है। इस प्रकार आठवें अध्याय का दूसरा, तीसरा तथा चौथा पाद इस के अधिकार में आता है। यह सूत्र इन तीनों पादों के सूत्रों में जा कर अनुवृत्ति करता है कि तू (पूर्वत्र इत्यव्ययपदम्) पूर्व-शास्त्र में (असिद्धम् ।१।१।) असिद्ध है; अर्थात् पूर्व की दृष्टि में तेरा कोई अस्तित्व ही नहीं। इस से यह होता है कि इन तीन पादों के सूत्र पूर्व-पठित सवा सात अध्यायों की दृष्टि में तथा इन तीन पादों में भी पूर्व के प्रति पर-सूत्र असिद्ध हो जाता है। यथा—**आद् गुणः** (२७) सवा सात अध्यायों के अन्तर्गत-सूत्र है [यह छठे अध्याय के प्रथम-पाद का ८४ वां सूत्र है]। इसकी दृष्टि में आठवें अध्याय के तीसरे पाद में वर्त्तमान **लोपः शाकल्यस्य** (३०) सूत्र असिद्ध है, अतः **आद् गुणः** (२७) सूत्र **लोपः शाकल्यस्य** (३०) सूत्र द्वारा किये गये यकार वकार के लोप को नहीं देखता; इसे तो अब भी यकार वकार सामने पड़े हुए दीख रहे हैं। अवर्ण से परे यकार वकार के दिखाई देने से अच् परे न होने के कारण **आद् गुणः** (२७) द्वारा गुण एकादेश नहीं होता—हर इह; विष्ण इह—ऐसे ही अवस्थित रहते हैं। इस प्रकार—लोप-पक्ष में 'हर इह, विष्ण इह' तथा लोपाभावपक्ष में 'हरयिह, विष्णविह' रूप सिद्ध होते हैं।[1]

अभ्यास (५)

(१) कौमुदीस्थ लम्बा-चौड़ा अर्थ **पूर्वत्रासिद्धम्** सूत्र का कैसे हो जाता है?

(२) सूत्र में विकल्प वाचक पद के न होने पर भी **लोपः शाकल्यस्य** सूत्र कैसे वैकल्पिक लोप किया करता है?

---

१. त्रिपादियों में पूर्व के प्रति पर-शास्त्र की असिद्धि में उदाहरण यथा—किम्वुक्तम्। यहां पर **मोऽनुस्वारः**(८.३.२३) इस पूर्व त्रिपादी सूत्र के प्रति **मय उञो वो वा** (८.३.३३) इस पर-त्रिपादी-सूत्र के असिद्ध होने से (अर्थात् व् की जगह उ = अच् होने से) म् को अनुस्वार नहीं होता।

(३) हरये, विष्णवे रूपों में **लोपः शाकल्यस्य** की प्रवृत्ति क्यों न हो ?
(४) 'हरय्+इह', 'विष्णव्+इह' यहां **लोपः शाकल्यस्य** से प्राप्त यकार वकार के लोप का **यणः प्रतिषेधो वाच्यः** से निषेध क्यों नहीं होता ?
(५) निम्न-लिखित रूपों में सन्धिच्छेद कर सूत्र-समन्वय-पूर्वक सिद्धि करें—
१. गुरा आयाते । २. प्रभ इदानीम् । ३. शौर आगच्छ । ४. भाना अपि । ५. रवा उदिते । ६. न धातु-लोप आर्धधातुके । ७. श्रिया उत्कण्ठितः । ८. तयागच्छन्ति । ९. विधा उदिते । १०. वन ऋषयः ।
(६) अधो-लिखित रूपों में सूत्र-समन्वय-पूर्वक सन्धि करें—
१. पुत्रौ+आगच्छतः । २. तस्मै+अदात् । ३. ते+इच्छन्ति । ४. गृहे+आसीत् । ५. एते+आगताः । ६. विश्वे+उपासते । ७. इतौ+अनार्षे । ८. स्थले+इदानीम् । ९. बालौ+आयातौ । १०. कस्मै+अयच्छत् । ११. आसने+आस्ते । १२. द्वौ+अपि ।

——: :o: :——

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(३२) **वृद्धिरादैच्** ।१।१।१॥

आदैच्च वृद्धि-सञ्ज्ञः स्यात् ॥

अर्थः—'आ, ऐ, औ—ये तीन वर्ण वृद्धि-सञ्ज्ञक होते हैं ।

व्याख्या - वृद्धिः ।१।१। आत् ।१।१। ऐच् ।१।१। अर्थः—(आत्, ऐच्) दीर्घ आकार, दीर्घ ऐकार तथा दीर्घ औकार (वृद्धिः) वृद्धि-सञ्ज्ञक होते हैं । 'आदैच्' यहां पर तपर किया गया है । यह तपर 'आ' के लिये नहीं किन्तु 'ऐच्' के लिये किया गया है; क्योंकि 'आ' तो अण्-प्रत्याहार के अन्तर्गत न होने से **अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः** (११) सूत्र द्वारा स्वतः ही सवर्णों का ग्रहण नहीं कराता, पुनः उसके लिए निषेध कैसा ? अतः यहां ऐच् के ग्रहण से प्लुत-सवर्णों का ग्रहण न हो अथवा 'देव+ऐश्वर्य' में त्रिमात्रस्थानी तथा 'गङ्गा+ओघ' में चतुर्मात्र स्थानी होने से ऐ-औ भी कहीं त्रिमात्र चतुर्मात्र न हों, किन्तु द्विमात्र ही हों; इसलिये तपर किया गया है । इस से—दीर्घ आकार, दीर्घ ऐकार, तथा दीर्घ औकार इन तीन वर्णों की 'वृद्धि' सञ्ज्ञा होती हैं । अब अग्रिम-सूत्र में इस सञ्ज्ञा का फल दिखाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३३) **वृद्धिरेचि** ।६।१।८५॥

आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । गुणाऽपवादः । कृष्णैकत्वम् । गङ्गौघः । देवैश्वर्यम् । कृष्णौत्कण्ठ्यम् ॥

अर्थः—अवर्ण से एच् परे होने पर पूर्व+पर के स्थान पर एक वृद्धि आदेश हो जाता है । **गुणेति**—यह सूत्र **आद् गुणः** (२७) सूत्र का अपवाद है ।

व्याख्या—आत् ।५।१। (**आद् गुणः** से) । एचि ।७।१। पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। (**एकः पूर्व-परयोः** यह अधिकृत है) । वृद्धिः ।१।१। अर्थः—(आत्) अवर्ण से (एचि) एच् परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक

(वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो जाता है। यह सूत्र **आद् गुणः** (२७) सूत्र का अपवाद है। बहुत विषय वाला उत्सर्ग और थोड़े विषय वाला अपवाद हुआ करता है। **आद् गुणः** (२७) सूत्र बहुत विषय वाला है; क्योंकि इस का अवर्ण से परे अच्-मात्र विषय है। **वृद्धिरेचि** (३३) सूत्र थोड़े विषय वाला है; क्योंकि इस का अवर्ण से परे अच्-प्रत्याहार के अन्तर्गत केवल एच् ही विषय है। उत्सर्ग और अपवाद दोनों प्रकार के सूत्र महामुनि पाणिनि ने बनाये हैं; अतः हमें कोई ऐसा हल ढूंढना है जिस से दोनों प्रकार के सूत्र सार्थक हो जायें, कोई अनर्थक न हो। अब यदि अपवाद के विषय में भी उत्सर्ग प्रवृत्त करते हैं तो अपवाद-सूत्र निरर्थक हो जाते हैं; क्योंकि तब इन्हें प्रवृत्त होने के लिये कोई स्थान ही नहीं मिल सकता। और उत्सर्ग के विषय में अपवाद प्रवृत्त करते हैं तो उतने मात्र में प्रवृत्त होकर अपवाद सार्थक हो जाता है और शेष बचे हुए में उत्सर्ग भी प्रवृत्त हो सकता है; इस प्रकार दोनों सार्थक हो जाते हैं। इस से यह सिद्ध हुआ कि उत्सर्ग के विषय में ही अपवाद प्रवृत्त करना युक्त है। तो अब **आद् गुणः** (२७) के विषय में **वृद्धिरेचि** (३३) सूत्र प्रवृत्त होकर 'एच्' के स्थानों को उस से छीन लेगा; शेष बचे हुए स्थानों में ही वह प्रवृत्त होगा। उदाहरण यथा—

कृष्णैकत्वम् (कृष्ण की एकता)। 'कृष्ण+एकत्व' यहां णकारोत्तर अवर्ण से परे 'एकत्व' शब्द का आदि एकार=एच् वर्त्तमान है। अतः **वृद्धिरेचि** (३३) सूत्र द्वारा पूर्व=अ और पर=ए के स्थान पर एक वृद्धि आदेश प्राप्त होता है। 'अ+ए' का स्थान 'कण्ठ+तालु' है; इधर वृद्धि-सञ्ज्ञकों में 'ऐ' का स्थान 'कण्ठ+तालु' है अतः **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) के अनुसार 'अ+ए' के स्थान पर 'ऐ' यह एक वृद्धि आदेश हो कर—कृष्ण् 'ऐ' कत्व='कृष्णैकत्वम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

गङ्गौघः (गङ्गा का प्रवाह)। 'गङ्गा+ओघ' यहां पूर्व=आ और पर=ओ का 'कण्ठ+ओष्ठ' स्थान है; अतः **वृद्धिरेचि** (३३) सूत्र द्वारा पूर्व+पर के स्थान पर 'कण्ठ+ओष्ठ' स्थान वाला 'औ' यह एक वृद्धि आदेश हो कर—गङ्ग् 'औ' घ= 'गङ्गौघः' प्रयोग सिद्ध होता है।

देवैश्वर्यम् (देवताओं का ऐश्वर्य)। 'देव+ऐश्वर्य' यहां पूर्व=अ और पर= ऐ का 'कण्ठ+तालु' स्थान है; अतः **वृद्धिरेचि** (३३) सूत्र द्वारा पूर्व+पर के स्थान पर 'कण्ठ+तालु' स्थान वाला 'ऐ' यह एक वृद्धि आदेश होकर—देव् 'ऐ' श्वर्य= 'देवैश्वर्यम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

कृष्णौत्कण्ठ्यम् (कृष्ण की उत्कण्ठा)। 'कृष्ण+औत्कण्ठ्य' यहां पूर्व=अ और पर=औ का 'कण्ठ+ओष्ठ' स्थान है; अतः **वृद्धिरेचि** (३३) सूत्र द्वारा पूर्व+पर के स्थान पर 'कण्ठ+ओष्ठ' स्थान वाला 'औ' यह एक वृद्धि आदेश होकर—कृष्ण् 'औ' त्कण्ठ्य='कृष्णौत्कण्ठ्यम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

अभ्यास (६)

(१) निम्नलिखित रूपों में सूत्रार्थ-समन्वय-पूर्वक सन्धि करें—

१. पञ्च+एते। २. जन+एकता। ३. तण्डुल+ओदन। ४. राम+औत्सुक्य। ५. नृप+ऐश्वर्य। ६. महा+औषध। ७. एक+एक। ८. राजा+एषः। ६. महा+औदार्य। १०. वीर+एक। ११. महा+एनः। १२. दर्शन+औत्सुक्य। १३. अस्य+औचिती। १४. सुख+औपयिक। १५. दीर्घ+एरण्ड।

(२) निम्न-लिखित प्रयोगों में सूत्रार्थ-समन्वय-पूर्वक सन्धिच्छेद करें—

१. अत्रैकमत्यम्। २. पूर्वैनः। ३. भृत्यौद्धत्यम्। ४. पण्डितौकः। ५. बालैषा। ६. चित्तैकाग्र्यम्। ७. तथैव। ८. महौजसः। ६. तवैवम्। १०. सत्यैतिह्यम्। ११. ममौदासीन्यम्। १२. कर्मौर्ध्वदेहिकम्। १३. दीर्घैकारः। १४. ज्ञातौषधिः। १५. महौष्ण्यम्। १६. प्लुतौकारः। १७. स्थूलैणः। १८. मैवम्। १९. बिम्बौष्ठी। २०. स्थूलौतुः[1]।

(३) उत्सर्ग और अपवाद किसे कहते हैं? अपवाद के विषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति क्यों नहीं हुआ करती?

(४) **वृद्धिरेचि** सूत्र गुण का अपवाद है; इस वचन की व्याख्या करो।

(५) **वृद्धिरादैच्** सूत्र में तपर करने का क्या प्रयोजन है?

——: :०: :——

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(३४) एत्येधत्यूठ्सु**।६।१।८६॥

अवर्णादेजाद्योरेत्येधत्योरूठि च परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। पररूप-गुणाऽपवादः। उपैति। उपैधते। प्रष्ठौहः। एजाद्योः किम्? उपेतः। मा भवान् प्रेदिधत्॥

अर्थः—अवर्ण से परे यदि एच्-प्रत्याहार आदि वाली 'इण्' तथा 'एध्' धातु हों अथवा ऊठ् हो तो पूर्व+पर के स्थान पर एक वृद्धि आदेश हो जाता है। **पर-रूपेति**—यह सूत्र **एङि पररूपम्** (३८) तथा **आद् गुणः** (२७) सूत्रों का अपवाद है।

व्याख्या—आत्।५।१। (**आद् गुणः** से)। एजाद्योः।७।२। (**वृद्धिरेचि** सूत्र से 'एचि' पद की अनुवृत्ति आती है। यह पद 'एति' और 'एधति' का ही विशेषण बन सकता है, असम्भव होने से 'ऊठ्' का नहीं; अतः वचन-विपरिणाम से द्विवचन और **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** से तदादि-विधि होकर 'एजाद्योः' ऐसा बन जाता है)। एत्येधत्यूठ्सु।७।३। (एति+एधति+ऊठ्सु)। पूर्व-परयोः।६।२। एकः।१।१। (**एकः पूर्व-परयोः** यह अधिकृत हैं)। वृद्धिः।१।१। (**वृद्धिरेचि** से)। अर्थः—(आत्) अवर्ण से (एजाद्योः) एजादि (एत्येधत्यूठ्सु) इण् और एध् धातु परे होने पर अथवा ऊठ् परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (वृद्धिः) वृद्धि आदेश होता है। उदाहरण यथा—

उपैति (पास जाता है)। 'उप+एति' ['एति' यह पद **इण् गतौ** (अदा०)

---

१. 'बिम्बोष्ठी' और 'स्थूलोतुः' भी होता है। **ओत्वोष्ठयोः समासे वा** वार्त्तिक से वैकल्पिक पररूप हो जाता है। पररूप के अभाव में वृद्धि समझनी चाहिये।

धातु के लँट् लकार के **प्रथम-पुरुष** का एकवचन है] यहां पकारोत्तर अवर्ण से परे एजादि 'इण्' धातु वर्त्तमान है, अतः इस सूत्र से पूर्व=अ और पर=ए के स्थान पर 'ऐ' यह एक वृद्धि आदेश हो कर—उप् 'ऐ' ति='उपैति' प्रयोग सिद्ध होता है।

उपैधते (पास बढ़ता है)। 'उप+एधते' ['एधते' यह पद **एधँ वृद्धौ** (भ्वा०) धातु के लँट् लकार के प्रथमपुरुष का एकवचन है] यहां अवर्ण से परे एजादि एध् धातु वर्त्तमान है अतः पूर्व=अ और पर=ए के स्थान पर एक 'ऐ' वृद्धि आदेश हो कर—उप् 'ऐ' धते='उपैधते' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्रष्ठौहः (प्रष्ठवाह् का[1])। 'प्रष्ठ+ऊहः' (यहां 'ऊठ्' है। कैसे है? यह हलन्त-पुंल्लिङ्ग में 'विश्ववाह्' शब्द पर स्पष्ट होगा) यहां अवर्ण से ऊठ् परे है अतः पूर्व=अ और पर=ऊ दोनों के स्थान पर 'औ' यह वृद्धि एकादेश हो कर—प्रष्ठ् 'औ' हः='प्रष्ठौहः' प्रयोग सिद्ध होता है।

यह सूत्र ऊठ् के विषय में गुण का तथा इण् और एध् के विषय में आगे वक्ष्य-माण **एङि पररूपम्** (३८) सूत्र द्वारा विधीयमान पररूप का अपवाद है।

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस सूत्र में इण् और एध् धातु को एजादि क्यों कहा गया है? अर्थात् यदि एजादि न कहते; तो कौन सी हानि हो जाती? इस का उत्तर यह है कि एजादि न कहने से 'उपेतः' और 'प्रेदिधत्' प्रयोगों में भी वृद्धि हो जाती; जो नितान्त अनिष्ट है। तथाहि—उपेतः (समीप पहुंचा, युक्त अथवा वे दोनों पास जाते हैं)। 'उप+इतः' ('इतः' यह पद **इण् गतौ** धातु का क्तान्त रूप है अथवा लँट् लकार के प्रथम-पुरुष का द्विवचन है) यहां अवर्ण से परे 'इण्' धातु तो है पर वह एजादि नहीं; अतः वृद्धि न हो कर **आद् गुणः** (२७) सूत्र से 'ए' यह गुण एकादेश ही होगा। इस से—उप् 'ए' तः='उपेतः' यह इष्ट रूप सिद्ध हो जायेगा। 'मा भवान् प्रेदिधत्' (आप अधिक न बढ़ावें) ['इदिधत्' यह णिजन्त एध् धातु के लुँङ् लकार के प्रथम-पुरुष का एकवचन है। यहां **न माङ्योगे** (४४१) सूत्र से 'आट्' आगम का निषेध हो जाता है; इसी बात को जतलाने के लिये यहां 'मा' पद का प्रयोग किया गया है] यहां अवर्ण से परे 'एध्' धातु तो वर्त्तमान है; पर वह एजादि नहीं; अतः इस सूत्र से वृद्धि न हो **आद् गुणः** (२७) सूत्र द्वारा गुण हो जायेगा। इस से—प्र् 'ए' दिधत्='प्रेदिधत्' यह इष्ट रूप सिद्ध हो जायेगा।

ये दोनों उक्त सूत्र के प्रत्युदाहरण हैं। विपरीत उदाहरणों को प्रत्युदाहरण कहते हैं; अर्थात् 'यदि सूत्रों में यह न कहते तो यह अशुद्ध हो जाता' इस प्रकार जो प्रयोग दर्शाये जाते हैं उन्हें प्रत्युदाहरण कहते हैं।

सूत्र में 'एति' और 'एधति' से 'इण्' और 'एध्' धातु का ही ग्रहण समझना

---

१. उद्दण्डता दूर करने के लिये जिस के गले में युग या भारी काष्ठ बान्ध देते हैं उस बछड़े या बैल को 'प्रष्ठवाह्' कहते हैं। यहां प्रष्ठवाह् शब्द के षष्ठी के एक-वचनान्त का प्रयोग है। **प्रष्ठवाड् युगपार्श्वगः, प्रष्ठौही बालगर्भिणी**—इत्यमरः।

चाहिये। जैसे वर्णों से स्वार्थ में 'कार' प्रत्यय लगाया जाता है (अकार, इकार, उकार, ककार आदि) वैसे धातुओं के निर्देश करने में भी 'इ' (इक्) या 'ति' (श्तिप्) लगाये जाते हैं। यथा— गमि वा गच्छति, एधि वा एधति, चलि वा चलति आदि। इन सब का तात्पर्य गम्, एध्, चल् आदि मूल धातुओं से ही होता है।

[लघु०] वा०—(४) अक्षादूहिन्यामुपसङ्ख्यानम् ॥

अक्षौहिणी सेना ॥

अर्थः—'अक्ष' शब्द के अन्त्य अवर्ण से 'ऊहिनी' शब्द का आदि ऊकार परे होने पर पूर्व+पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो जाता है। ऐसा अधिक-वचन करना चाहिये।

व्याख्या—(अक्षात् ।५।१।) 'अक्ष' शब्द से (ऊहिन्याम् ।७।१।) 'ऊहिनी' शब्द परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो जाता है; ऐसा (उपसङ्ख्यानं कर्त्तव्यम्) अधिक-वचन करना चाहिये। ध्यान रहे कि इस प्रकरण में 'आत्' और 'अचि' की अनुवृत्ति होने से सर्वत्र पूर्व मे अवर्ण और पर से अच् का ग्रहण होता है। उदाहरण यथा

'अक्षौहिणी'[1]। 'अक्ष+ऊहिनी' (अक्षाणाम् ऊहिनीति षष्ठीतत्पुरुष-समासः) यहां 'अ+ऊ' का स्थान 'कण्ठ+ओष्ठ' होने से तादृश-स्थान वाला 'औ' वृद्धि एकादेश हो - अक्ष् 'औ' हिनी = 'अक्षौहिनी' बना। अब **पूर्व-पदात् सञ्ज्ञायामगः** (८.४.३) सूत्र से नकार को णकार आदेश करने से 'अक्षौहिणी' प्रयोग सिद्ध होता है। यहां गुण की प्राप्ति में वृद्धि कही गई है अतः यह वार्त्तिक गुण का अपवाद है।

[लघु०] वा०—(५) प्राद् ऊहोढोढ्येषैष्येषु ॥

प्रौहः। प्रौढः। प्रौढिः। प्रैषः। प्रैष्यः ॥

अर्थः—'प्र' शब्द के अन्त्य अवर्ण से ऊह, ऊढ, ऊढि, एष तथा एष्य शब्दों का आदि अच् परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो जाता है।

व्याख्या—प्रात् ।५।१। ऊहोढोढ्येषैष्येषु ।७।३। पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। (**एकः पूर्वपरयोः** यह अधिकृत है)। वृद्धिः ।१।१। (**वृद्धिरेचि** से)। समासः—ऊहश्च ऊढश्च ऊढिश्च एषश्च एष्यश्च तेषु = ऊहोढोढ्यैषैष्येषु। इतरेतरद्वन्द्वः। **अर्थः**—(प्रात्) 'प्र' शब्द से (ऊहोढोढ्येषैष्येषु) ऊह, ऊढ, ऊढि, एष तथा एष्य शब्द परे

---

१. 'अक्षौहिणी' विशेष परिमाण वाली सेना कहाती है। इस का परिमाण यथा—

अक्षौहिण्याः प्रमाणं तु खाङ्गाष्टैकद्विकैर्गजैः।
रथैरेतैर्हयैस्त्रिघ्नैः पञ्चघ्नैश्च पदातिभिः ॥

२१८७०	हाथी	अक्षौहिणी सेना
२१८७०	रथ	
६५६१०	घोड़े (रथवाहकों से अतिरिक्त)	
१०९३५०	पैदल	

होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो। उदाहरण यथा —

प्र+ऊह=प्र् 'औ' ह='प्रौहः'। [उत्तम तर्क वा उत्तम तर्क करने वाला]
प्र+ऊढ=प्र् 'औ' ढ='प्रौढः'। [बढ़ा हुआ वा अधेड़]
प्र+ऊढि=प्र् 'औ' ढि='प्रौढिः'। [प्रौढता व शेखी]
प्र+एष=प्र् 'ऐ' ष='प्रैषः'। [प्रेरणा, घञन्तोऽत्र इष-धातुः]
प्र+एष्य=प्र् 'ऐ' ष्य='प्रैष्यः'। [प्रेरणीय, सेवक, ण्यदन्तोऽत्र इष-धातुः]

'प्रैषः, प्रैष्यः' यहां **एङि पररूपम्** (३८) से पररूप प्राप्त था, शेष स्थानों पर **आद् गुणः** (२७) सूत्र से गुण प्राप्त था। यह वार्त्तिक इन दोनों का अपवाद है।

[लघु०] वा०—(६) ऋते च तृतीया-समासे ॥

सुखेन ऋतः—सुखार्तः। तृतीयेति किम्? परमर्तः॥

अर्थः—तृतीया-समास में अवर्ण से ऋत शब्द का आदि ऋवर्ण परे होने पर पूर्व+पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो जाता है।

व्याख्या—आत्।५।१। (**आद् गुणः** सूत्र से)। ऋते।७।१। च इत्यव्ययपदम्। पूर्व-परयोः।६।२। एकः।१।१। (**एकः पूर्व-परयोः** यह अधिकृत है)। वृद्धिः।१।१। (**वृद्धिरेचि** से)। तृतीया-समासे।७।१। अर्थः—(तृतीया-समासे) तृतीया-तत्पुरुष-समास में (आत्) अवर्ण से (ऋते) 'ऋत' शब्द परे होने पर (च) भी (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (वृद्धि) वृद्धि आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

'सुखेन ऋतः' यह लौकिक-विग्रह है। अलौकिक-विग्रह अर्थात् 'सुख टा ऋत सुँ' में **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्र द्वारा टा और सुँ का लुक् हो जाने पर 'सुख+ऋत' ऐसा बनता है। अब इस वार्त्तिक से पूर्व=अवर्ण और पर=ऋवर्ण के स्थान पर वृद्धि करनी है। 'अ+ऋ' का स्थान 'कण्ठ+मूर्धा' है। कण्ठ+मूर्धा' स्थान वाला वृद्धि-सञ्ज्ञकों में कोई नहीं; सब का 'कण्ठ' स्थान ही तुल्य है। अब यदि 'आ' यह वृद्धि एकादेश करें तो **उरण्रँपरः** (२९) सूत्र से रपर होकर 'आर्' हो जाने से 'कण्ठ+मूर्धा' स्थान तुल्य हो जायेगा। तो ऐसा करने से—सुख् 'आर्' त='सुखार्त' प्रयोग हो कर विभक्ति लाने से 'सुखार्तः' सिद्ध हो जाता है। इस का अर्थ—सुख से प्राप्त हुआ अर्थात् सुखी है।

अब यहां यह विचार उपस्थित होता है कि अवर्ण से 'ऋत' परे होने पर वृद्धि का विधान समास में तो करना ही चाहिये, क्योंकि 'सुखेन+ऋतः' यहां लौकिक-विग्रह में वृद्धि न हो कर गुण एकादेश होने से 'सुखेनर्तः' प्रयोग बन सके। परन्तु 'तृतीया का ही समास हो अन्य विभक्तियों का न हो' इस कथन का क्या प्रयोजन है? क्यों समास-मात्र में ही वृद्धि का विधान न कर दिया जाये? इस का उत्तर ग्रन्थकार यह देते हैं कि यदि 'तृतीया' न कहेंगे; समास-मात्र में ही वृद्धि विधान करेंगे तो 'परमश्चासौ ऋतः=परम+ऋत' यहां गुण न हो कर वृद्धि हो जायेगी, क्योंकि समास

तो यहां भी है। अब यहां कर्मधारय-समास में गुण हो कर 'परमर्तः' यह इष्ट प्रयोग सिद्ध हो जाता है। 'परमर्तः' का अर्थ 'मुक्त' है।

[लघु०] वा०—(७) **प्र-वत्सतर-कम्बल-वसनार्ण-दशानाम् ऋणे** ॥

प्रार्णम्। वत्सतरार्णम् इत्यादि ॥

अर्थः—प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन, ऋण तथा दश इन छः शब्दों के अन्त्य अवर्ण से परे 'ऋण' शब्द का आदि ऋवर्ण होने पर पूर्व+पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो जाता है।

व्याख्या—प्र-वत्सतर-कम्बल-वसनार्ण-दशानाम् ।६।३। (यहां पञ्चमी-विभक्ति के स्थान पर षष्ठी-विभक्ति समझनी चाहिये)। **ऋणे** ।७।१। **पूर्वपरयोः** ।६।२। **एकः** ।१।१। (**एकः पूर्वपरयोः** अधिकृत है)। वृद्धिः ।१।१। (**वृद्धिरेचि** से)। अर्थः—(प्र-वत्सतर-कम्बल-वसनार्ण-दशानाम्) प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन, ऋण तथा दश इन शब्दों से (ऋणे) ऋण शब्द परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

(१) प्र+ऋण=प्र् 'आर्' ण='प्रार्णम्' [अधिक वा उत्तम ऋण]।
(२) वत्सतर+ऋण=वत्सतर् 'आर्' ण='वत्सतरार्णम्' [बछड़े के लिये ऋण]।
(३) कम्बल+ऋण=कम्बल् 'आर्' ण='कम्बलार्णम्' [कम्बल का ऋण]।
(४) वसन+ऋण=वसन् 'आर्' ण='वसनार्णम्' [कपड़े का ऋण]।
(५) ऋण+ऋण=ऋण् 'आर्' ण='ऋणार्णम्' [ऋण चुकाने के लिये ऋण]।
(६) दश+ऋण=दश् 'आर्' ण='दशार्णः' [दश प्रकार के जल वाला देश-विशेष]।

ध्यान रहे कि अन्तिम उदाहरण में बहुव्रीहि-समास है। इस में 'दशन्' के नकार का **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) सूत्र से लोप हो जाता है। यह वार्तिक भी गुण एकादेश का अपवाद है।

अभ्यास (७)

(१) निम्नस्थ रूपों में उत्सर्गनिर्देशपूर्वक ससूत्र सन्धि करें—
१. विश्वौहः। २. प्रौहः। ३. भारौहः। ४. अवैति। ५. अभ्युपैति। ६. ऋणार्णम्। ७. उपैता (तृच्)। ८. अवैधते। ९. प्रौढिः। १०. अक्षौहिणी। ११. प्रैति। १२. समैधते। १३. दशार्णः। १४. प्रैष्यः। १५. प्रैधे। १६. दुःखार्तः।

(२) **एत्येधत्यूठ्सु** सूत्र में 'एजादि' ग्रहण क्यों किया जाता है?

(३) **ऋते च तृतीया-समासे** में तृतीया-ग्रहण का क्या प्रयोजन है?

(४) 'अक्षौहिणी' सेना का परिमाण बताओ।

(५) एति और एधति में 'ति' ग्रहण का क्या प्रयोजन है?

(६) 'उपसङ्ख्यान' शब्द का क्या अर्थ होता है?

(७) **एत्येधत्यूठ्सु, प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु, अक्षादूहिन्यामुपसङ्ख्यानम्** ये सूत्र या वार्तिक किस २ के अपवाद हैं? सोदाहरण समझाइये।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(३५) **उपसर्गाः क्रिया-योगे** ।१।४।५८।।

प्रादयः क्रिया-योगे उपसर्ग-सञ्ज्ञाः स्युः । १. प्र । २. परा । ३. अप । ४. सम् । ५. अनु । ६. अव । ७. निस्[1] । ८. निर् । ९. दुस् । १०. दुर् । ११. वि । १२. आङ् । १३. नि । १४. अधि । १५. अपि । १६. अति । १७. सु । १८. उद् । १९. अभि । २०. प्रति । २१. परि । २२. उप—एते प्रादयः ।।

अर्थः—क्रिया-योग में प्रादि 'उपसर्ग' सञ्ज्ञक होते हैं ।

व्याख्या—प्रादयः ।१।३। (इसी सूत्र का अंश, जिसे योग-विभाग करके भाष्य-कार ने अलग किया है) । उपसर्गाः ।१।३। क्रिया-योगे ।७।१। समासः—'प्र'शब्द आदि-र्येषान्ते प्रादयः । तद्-गुण-संविज्ञान-बहुव्रीहि-समासः [इस समास का विवेचन (१३३) सूत्र पर देखें] । क्रियया योगः=क्रिया-योगः, तस्मिन्=क्रिया-योगे । तृतीया-तत्पुरुष-समासः । अर्थः—(क्रिया-योगे) क्रिया के साथ अन्वित होने पर (प्रादयः) 'प्र' आदि २२ शब्द (उपसर्गाः) उपसर्ग-सञ्ज्ञक होते हैं । यह सूत्र **प्राग्रीश्वरान्निपाताः** (१.४.५६) के अधिकार में पढ़ा गया है; अतः इन की निपात-सञ्ज्ञा भी साथ ही समझ लेनी चाहिये । निपात-सञ्ज्ञा का प्रयोजन 'अव्यय' बनाना है [देखें—**स्वरादिनिपातमव्ययम्** (३६७)] । प्रादि कौन २ से हैं ? इस का ज्ञान **गण-पाठ** से होता है । मूल में प्रादि-गण दे दिया गया है । **गण-पाठ** महामुनि पाणिनि ने रचा है । प्रादि-गण पर विशेष विचार आगे यत्र तत्र बहुत किया जायेगा ।

नोट—प्रादि-गण में 'उद्' के स्थान पर 'उत्' पाठ प्रायः सब लघुकौमुदियों तथा सिद्धान्तकौमुदियों में देखा जाता है पर वह अशुद्ध है; क्योंकि **उदश्चरः सकर्म-कात्** (७३९), **उदि कूले रुजि-वहोः** (३.२.३१), **उदः स्था-स्तम्भोः पूर्वस्य** (७०) इत्यादि पाणिनि-सूत्रों से इस के दकारान्त होने का ही निश्चय होता है ।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(३६) **भूवादयो धातवः** ।१।३।१।।

क्रिया-वाचिनो भ्वादयो धातु-संज्ञाः स्युः ।।

अर्थः—क्रिया के वाचक 'भू' आदि धातु-सञ्ज्ञक होते हैं ।

व्याख्या—भूवादयः ।१।३। धातव. ।१।३। समासः—भूश्च वाश्च भूवौ, इतरे-तरद्वन्द्वः । **वा गति-गन्धनयोः** इत्यादादिको धातुः । आदिश्च आदिश्च=आदी । भूवौ आदी येषां ते भूवादयः, बहुव्रीहि-समासः । प्रथम आदि-शब्दः प्रभृति-वचनः, द्वितीय

---

१. कई लोग यहां शङ्का किया करते हैं कि निस् और निर् में तथा दुस् और दुर् में किसी एक का ही पाठ उपसर्गों में करना चाहिये दोनों का नहीं, क्योंकि सान्त भी सर्वत्र **ससजुषो रुः** (८.२.६६) से रेफान्त ही हो जाया करते हैं । इस का समाधान यह है कि निस्, दुस् में जो सकार को रुँ होता है, उसके असिद्ध होने से प्राप्त कार्य नहीं हो पाते; जैसे—'निरयते, दुरयते' में **उपसर्गस्यायतौ** (८.२.१९) से लत्व नहीं होता, क्योंकि उस की दृष्टि में 'र्' असिद्ध है । 'निर्, दुर्' में लत्व हो जाता है—'निलयते, दुलयते' । इस लिये इन्हें भिन्न २ पढ़ा गया है ।

आदि-शब्दः प्रकार-वचनः । भू-प्रभृतयो वा-सदृशा इत्यर्थः । वा—धातुना सादृश्यं क्रिया-वाचकत्वेनैव बोध्यम् । अर्थः—(भू-वादयः) क्रिया-वाची भ्वादि (धातवः) धातु-सञ्ज्ञक हों । क्रिया काम को कहते हैं । खाना, पीना, उठना, बैठना, करना आदि क्रियाएं हैं । क्रिया अर्थ वाले भ्वादि [यहां केवल भ्वादि-गण ही नहीं समझना चाहिये, अपितु समग्र धातु-पाठ का ग्रहण करना चाहिये] धातु-सञ्ज्ञक होते हैं । यहां यदि क्रिया-वाची नहीं कहते तो 'याः पश्यति' (जिन स्त्रियों को देखता है) यहां 'या+शस्' में **आतो धातोः** (१६७) से आकार का अनिष्ट लोप प्राप्त होता है, क्योंकि भ्वादियों में 'या' का पाठ देखा जाता है । अब क्रिया-वाची कहने से यह दोष नहीं आता; क्योंकि यहां 'या' का अर्थ क्रिया नहीं अपितु 'जो' है । यह टाबन्त सर्वनाम है ।

अब अग्रिम-सूत्र में उपसर्ग और धातु-सञ्ज्ञा का फल बतलाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(३७) उपसर्गाद् ऋति धातौ ।६।१।८८।।**

अवर्णान्तादुपसर्गाद् ऋकारादौ धातौ परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । प्राच्र्छति ।।

अर्थः—अवर्णान्त उपसर्ग से ऋकारादि धातु परे हो तो पूर्व+पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो ।

व्याख्या—आत् ।५।१। (**आद् गुणः** से । 'उपसर्गात्' का विशेषण होने से तदन्त-विधि हो जाती है) । उपसर्गात् ।५।१। ऋति ।७।१। ('धातौ' का विशेषण होने के कारण **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** द्वारा इस से तदादि-विधि हो जाती है) । धातौ ।७।१। पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। (**एकः पूर्व-परयोः** यह अधिकृत है)। वृद्धिः ।१।१। (**वृद्धिरेचि** से) । अर्थः—(आत्=अवर्णान्तात्) अवर्णान्त (उपसर्गात्) उपसर्ग से (ऋति=ऋकारादौ) ऋकारादि (धातौ) धातु परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो जाता है । उदाहरण यथा—

प्राच्र्छति (जाता है) । 'प्र+ऋच्छति' यहां 'ऋच्छ्' (भ्वा० वा तुदा०) यह गमनक्रिया-वाची होने से **भूवादयो धातवः** (३६) के अनुसार धातु-सञ्ज्ञक है; इस के साथ योग होने के कारण **उपसर्गाः क्रिया-योगे** (३५) सूत्र द्वारा 'प्र' की उपसर्ग-संज्ञा हो जाती है । तो अब 'प्र' इस अवर्णान्त उपसर्ग से 'ऋच्छ्' यह ऋकारादि धातु परे वर्त्तमान है, अतः **उरण्रँपरः** (२९) की सहायता से **उपसर्गादृति धातौ** (३७) द्वारा पूर्व=अ और पर=ऋ के स्थान पर 'आर्' यह एक वृद्धि आदेश हो कर—प्र् 'आर्' च्छति='प्राच्र्छति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । यह सूत्र भी **आद् गुणः** (२७) द्वारा प्राप्त गुण एकादेश का अपवाद समझना चाहिये ।

अभ्यास (८)

(१) प्रादि-गण में कितने अजन्त और कितने हलन्त शब्द हैं ?

(२) प्रादि-गण में 'उत्' अथवा 'उद्' कौन सा पाठ युक्त है; सप्रमाण लिखें ?

(३) 'निस्-निर्' 'दुस्-दुर्' ये दो २ क्यों पढ़े गये हैं ?

(४) **भूवादयो धातवः** सूत्र में वकार का आगमन कैसे और क्यों हो जाता है ?

(५) अधोलिखित रूपों में सोपपत्तिक सूत्र-निर्देश करते हुए सन्धि करें—
१. प्र+ऋञ्जते। २. कन्या+ऋञ्जते। ३. परा+ऋद्ध्नोति। ४. बाला+ऋद्ध्नोति। ५. प्र+ऋणोति। ६. न+ऋणोति। ७. उप+ऋच्छन्। ८. पिता+ऋच्छति।[1]

——::०::——

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३८) **एङि पररूपम्** ।६।१।९१॥

आदुपसर्गादेङादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः स्यात्। प्रेजते। उपोषति॥

अर्थः—अवर्णान्त उपसर्ग से एङादि धातु परे हो तो पूर्व+पर के स्थान पर पररूप एकादेश हो जाता है।

व्याख्या—आत् ।५।१। (**आद् गुणः** से। 'उपसर्गात्' का विशेषण होने से तदन्त-विधि हो जाती है)। उपसर्गात् ।५।१। धातौ ।७।१। (**उपसर्गादृति धातौ** से)। एङि ।७।१। ('धातौ' का विशेषण होने से **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** द्वारा तदादि-विधि हो जाती है)। पूर्व-परयोः ।६।२। एकम् ।१।१। (**एकः पूर्व-परयोः** यह अधिकृत है। 'एकः' के स्थान पर 'एकम्', 'पररूपम्' का विशेषण होने से किया गया है। अथवा 'आदेशः' होने से 'एकः' ही रहता है)। पर-रूपम् ।१।१। अर्थः—(आत्=अवर्णान्तात्) अवर्णान्त (उपसर्गात्) उपसर्ग से (एङि=एङादौ) एङादि (धातौ) धातु परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकम्) एक (पररूपम्) पररूप आदेश हो जाता है। 'पररूप' से तात्पर्य 'पर' से है; 'रूप' ग्रहण स्पष्ट प्रतिपत्ति (बोध) के लिये है। उदाहरण यथा—

प्रेजते (अत्यन्त चमकता है)। 'प्र+एजते' (**एजृँ दीप्तौ** धातु के लँट् लकार के प्रथम-पुरुष का एकवचन है[2]) यहां 'प्र' यह अवर्णान्त उपसर्ग और 'एजते' यह एङादि धातु है। अतः पूर्व (अ) और पर (ए) के स्थान पर एक पररूप 'ए' आदेश करने से—प्र् 'ए' जते='प्रेजते' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

उपोषति (जलाता है)। 'उप+ओषति' (**उष दाहे** धातु के लँट् लकार के प्रथम-पुरुष का एकवचन है) यहां 'उप' यह अवर्णान्त उपसर्ग और 'ओषति' यह एङादि धातु है। अतः पूर्व (अ) और पर (ओ) के स्थान पर एक पररूप 'ओ' आदेश करने से—उप् 'ओ' षति='उपोषति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

यह सूत्र **वृद्धिरेचि** (३३) सूत्र का अपवाद है। ध्यान रहे कि एति और एधति के विषय में इस का भी अपवाद **एत्येधत्यूठ्सु** (३४) सूत्र है।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(३९) **अचोऽन्त्यादि टि** ।१।१।६४॥

अचां मध्ये योऽन्त्यः स आदिर्यस्य तट्टिसञ्ज्ञं स्यात्॥

अर्थः—अचों में जो अन्त्य अच्, वह है आदि में जिस के, उस शब्द-समुदाय की टि-सञ्ज्ञा होती है।

---

१. यहां सावधानी से सन्धि करनी चाहिये; गुण के उदाहरण भी मिश्रित हैं।
२. **एजृँ कम्पने** परस्मैपदी है अतः उस का यहां प्रयोग नहीं।

व्याख्या—अचः ।६।१। [यहां **यतश्च निर्धारणम्** (२.३.४१) सूत्र द्वारा निर्धारण में षष्ठी-विभक्ति होती है । यथा—'नृणां ब्राह्मणः श्रेष्ठः' । किञ्च यहां जाति में एकवचन हुआ समझना चाहिये] । अन्त्यादि ।१।१। टि ।१।१। समासः—अन्ते भवोऽन्त्यः, अन्त्य आदिर्यस्य शब्द-स्वरूपस्य तत् अन्त्यादि, बहुव्रीहि-समासः । अर्थः—(अचः) अचों के मध्य में (अन्त्यादि) जो अन्त्य अच्, वह है आदि में जिस के ऐसा शब्द-स्वरूप (टि) 'टि' सञ्ज्ञक होता है । यथा—'मनस्' यहां अचों में अन्त्य अच् नकारोत्तर अकार है, वह जिस के आदि में है ऐसा शब्द-स्वरूप 'अस्' है; अतः इस की इस सूत्र से 'टि' सञ्ज्ञा हो जाती है । एवम्—'पतत्' यहां 'अत्' की, 'आताम्' यहां 'आम्' की, 'ध्वम्' यहां 'अम्' की तथा 'अग्निचित्' यहां 'इत्' की 'टि' सञ्ज्ञा समझनी चाहिये । जहां अन्त्य अच् से परे अन्य कोई वर्ण नहीं होता; वहां केवल उस अन्त्य अच् की ही 'टि' सञ्ज्ञा हो जाती है । यथा—'कुल' यहां अचों में अन्त्य अच् लकारोत्तर अकार है, यह किसी के आदि में नहीं, **यथा देवदत्तस्यैकः पुत्रः स एव ज्येष्ठः स एव कनिष्ठः** इस न्यायानुसार अपने ही आदि और अपने ही अन्त में वर्त्तमान है अतः यहां केवल 'अ' की ही 'टि' सञ्ज्ञा होती है [इस विषय का स्पष्टीकरण **आद्यन्तवदेकस्मिन्** (२७८) सूत्र की व्याख्या समझने के बाद ही हो सकता है] । अब अग्रिम वार्त्तिक में 'टि' सञ्ज्ञा का उपयोग दिखाते हैं—

[लघु०] वा० —(८) शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम् ॥

तच्च टेः । शकन्धुः । कर्कन्धुः । कुलटा । मनीषा । आकृतिगणोऽयम् । मार्तण्डः ॥

अर्थः—शकन्धु आदि शब्दों में (उन की सिद्धि के अनुरूप) पररूप कहना चाहिये । (तत्) वह पररूप (टेः) टि (च) और अच् के स्थान पर समझना चाहिये ।

व्याख्या—शकन्ध्वादिषु ।७।३। पररूपम् ।१।१। वाच्यम् ।१।१। अर्थः—(शकन्ध्वादिषु) शकन्धु आदि शब्दों में (पररूपम्) पररूप (वाच्यम्) कहना चाहिये। शकन्धु आदि बने बनाए अर्थात् पर-रूप कार्य किये हुए शब्द एक गण में मुनिवर कात्यायन ने पढ़े हैं । इस गण का प्रथम शब्द 'शकन्धु' होने से इस गण का नाम शकन्ध्वादिगण है[1] । अब इस वार्त्तिक द्वारा कात्यायन जी कहते हैं कि इन में पर-रूप कर लेना चाहिये; इस पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि किस के स्थान पर पर-रूप करें ? इस का उत्तर सुतरां यह मिल जाता है कि योग के अनुसार इन को विभक्त कर उन उन के स्थान पर पर-रूप किया जाये, जिन के स्थान पर पर-रूप करने से गणपठित शब्द सिद्ध हो जाते हैं । जिस प्रकरण में यह वार्त्तिक पढ़ा गया है उस प्रकरण में 'आत्' और 'अचि' पदों की अनुवृत्ति आ रही है; तथा वह **एकः पूर्व-परयोः** (६.१.८१)

---

१. इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये; यथा—प्रादि-गण, सर्वादि-गण आदि । गणों के पाठ से लाघव होता है; अन्यथा सभी शब्दों को सूत्रों में पढ़ना पड़ेगा । कात्यायनीयगणपाठ भी अद्यत्वे पाणिनीयगणपाठ में मिश्रित मिलता है ।

के अधिकार के अन्तर्गत है। अतः प्रकरण-वशात् तो यही प्राप्त होता है कि—'पूर्व अवर्ण और पर अच् के स्थान पर एक पर-रूप आदेश हो'। अब यदि प्रकरणानुसार इन के स्थान पर पररूप एकादेश करते हैं तो और तो सब गण-पठित शब्द सिद्ध हो जाते हैं, केवल 'मनीषा' और 'पतञ्जलिः' शब्द सिद्ध नहीं होते; क्योंकि यहां 'मनस्+ईषा' और 'पतत्+अञ्जलि' इस प्रकार छेद होने से अवर्ण नहीं मिलता। अब यदि प्रकरणागत 'अवर्ण' की बजाय 'टि' कर दें [टि और अच् के स्थान पर पररूप एकादेश हो] तो सब शब्द जैसे गण में पढ़े गये हैं वैसे के वैसे सिद्ध हो जाते हैं, कोई दोष नहीं आता। अतः इन शकन्ध्वादियों में पूर्व=टि और पर=अच् के स्थान पर पररूप एकादेश करना ही युक्त है। ग्रन्थकार ने अपने मन में यह सब विचार कर इसी लिये **तच्च टेः** कहा है। शकन्ध्वादि-गण-पठित शब्द यथा—

(१) शकन्धुः (शकानाम्=देशविशेषाणाम् अन्धुः=कूपः, शकन्धुः। गवेषणीयोऽस्य प्रयोगः)। 'शक+अन्धु' यहां ककारोत्तर अकार की **अचोऽन्त्यादि टि** (३९) सूत्र से 'टि' सञ्ज्ञा हो जाती है। इस टि और 'अन्धु' शब्द के आदि अकार के स्थान पर एक पररूप 'अ' हो कर विभक्ति लाने से—शक् 'अ' न्धु='शकन्धुः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(२) कर्कन्धुः (कर्काणाम्=राजविशेषाणाम् अन्धुः=कूपः, कर्कन्धुः[1]। अन्वेषणीयोऽस्य प्रयोगः)। 'कर्क+अन्धु' यहां भी पूर्ववत् ककारोत्तर अकार=टि और 'अन्धु' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह एक पररूप आदेश करने से—कर्क् 'अ' न्धु='कर्कन्धुः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(३) कुलटा (व्यभिचारिणी स्त्री)। 'कुल+अटा' यहां लकारोत्तर अकार=टि और 'अटा' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह एक पररूप आदेश करने से—कुल् 'अ' टा='कुलटा'[2] प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

---

१. बेर के वृक्ष का नाम 'कर्कन्धू' है। यह कर्कोपपद **डुधाञ् धारणपोषणयोः** (जुहो०) धातु से औणादिक 'कू' प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। इस का निपातन **अन्दू-दृम्भू-जम्बू-कफेलू-कर्कन्धू-दिधिषूः** (९३) इस उणादि सूत्र में किया गया है; कर्कम्=कण्टकं दधातीति कर्कन्धूः। यह शब्द पुंलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों प्रकार का होता है। 'कर्कन्धु' ऐसा ह्रस्वोवर्णान्त शब्द भी कहीं २ बेरवाची मिलता है। वहां **उणादयो बहुलम्** (८४८) सूत्र में 'बहुल' ग्रहण के सामर्थ्य से 'कू' प्रत्यय की बजाय 'कु' प्रत्यय समझना चाहिये। बेर-वाची इस 'कर्कन्धु' शब्द का शकन्ध्वादियों में पाठ करना व्यर्थ है; क्योंकि वहां 'डुधाञ्' धातु है 'अन्धु' शब्द नहीं। अतः वहां पररूप करने की कोई आवश्यकता ही नहीं। इस से **क्षीरस्वामी** तथा **हेमचन्द्राचार्य** आदि का बेरवाचक कर्कन्धुशब्द में पररूप दर्शाना चिन्त्य ही है।

२. **अट गतौ** (भ्वा०) इत्यस्माद् **नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यो ल्युणिन्यचः** (७८६) इति कर्त्तर्यचि **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) इति टापि अटेति सिध्यति। अटतीत्यटा।

(४) मनीषा (बुद्धि)। 'मनस्+ईषा' यहां **अचोऽन्त्यादि टि** (३९) से 'अस्' की 'टि' संज्ञा है। इस टि और 'ईषा' शब्द के आदि ईकार के स्थान पर 'ई' यह एक पररूप आदेश करने से—मन् 'ई' षा='मनीषा'[1] प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

ग्रन्थकार ने यहां सम्पूर्ण शकन्ध्वादि-गण नहीं लिखा। निम्न-लिखित शब्द भी इसी गण में आते हैं—

(५) हलीषा (हलस्य ईषा=दण्डः, हलीषा। हल का दण्ड)। 'हल+ईषा' यहां लकारोत्तर अकार=टि और 'ईषा' शब्द के आदि ईकार के स्थान पर 'ई' यह एक पर-रूप आदेश करने से—हल् 'ई' षा='हलीषा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। 'मनीषा' की देखादेखी 'हलीषा' का 'हलस्+ईषा' छेद करना भूल है।

(६) लाङ्गलीषा (लाङ्गलस्य=हलस्य ईषा=दण्डः=लाङ्गलीषा, हल का दण्ड)। 'लाङ्गल+ईषा' यहां लकारोत्तर अवर्ण=टि और 'ईषा' शब्द के आदि ईकार के स्थान पर 'ई' यह एक पररूप आदेश हो कर—लाङ्गल् 'ई' षा='लाङ्गलीषा' प्रयोग सिद्ध होता है।

(७) पतञ्जलिः (व्याकरणमहाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि)। 'पतत्+अञ्जलि' यहां 'अत्' की 'टि' सञ्ज्ञा है। इस टि और 'अञ्जलि' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह एक पररूप आदेश हो कर—पत् 'अ' ञ्जलि='पतञ्जलिः'[2] प्रयोग सिद्ध होता है।

(८) सारङ्गः (चातक वा हरिण)। 'सार+अङ्ग' यहां रेफोत्तर अवर्ण=टि और 'अङ्ग' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह एक पररूप आदेश करने से —सार् 'अ' ङ्ग='सारङ्गः' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि चातक और हरिण अर्थ में ही इस का शकन्ध्वादियों में पाठ है, अन्य अर्थ में शकन्ध्वादियों में पाठ न होने से **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) द्वारा सवर्णदीर्घ हो कर 'साराङ्गः' बन जाता है। अत एव गणपाठ में **सारङ्गः पशु-पक्षिणोः** ऐसा उल्लेख किया गया है।

(९) सीमन्तः (सीम्नोऽन्तः=सीमन्तः)। 'सीम+अन्त'[3] यहां मकारोत्तर अवर्ण=टि और 'अन्त' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह पररूप एकादेश

कुलानामटा=कुलटा। कुलान्यटतीति विग्रहे तु कर्मण्यणि **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) इति ङीपि कुलाटीति स्यात्।

१. **ईष गतौ** (भ्वा०) इत्यस्माद् भावे **गुरोश्च हलः** (८६८) इति अ-प्रत्ययः। स्त्रियामित्यधिकारात् ततष्टाप्, मनस ईषा=गतिः, मनीषा। बुद्धिर्मनीषेत्युच्यते।

२. पतन् अञ्जलिर्यस्मिन् नमस्कार्यत्वाद् असौ पतञ्जलिः, बहुव्रीहि-समासः। तपस्यन्त्या गोपीनाम्न्याः स्त्रिया अञ्जलेः सर्परूपेण पतितोऽयं पतञ्जलिरिति पौराणिक-संवादे तु 'अञ्जलेः पतन्' इति विग्रहः; तत्र च मयूर-व्यंसकादित्वात् समासः।

३. यहां समास में विभक्ति-लोप होने से पदत्व के कारण **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) सूत्र से नकार का लोप हो जाता है।

करने से—सीम् 'अ' न्त='सीमन्तः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। केशों की सीमा के अन्त अर्थात् मांग को 'सीमन्त' कहते हैं। स्त्रियां जब कङ्घी द्वारा बाल संवारती हैं तो बालों के मध्य जो रेखा सी हो जाती है उसे सीमन्त या मांग कहते हैं। **सीमन्तः केशवेशे** (गणपाठ)—'मांग' से भिन्न अर्थ में इस का शकन्ध्वादि-गण में पाठ न होने के कारण **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्ण-दीर्घ हो कर 'सीमान्तः' (भूमि आदि की सीमा का अन्त) प्रयोग बनेगा।

आकृति-गणोऽयम्। आकृत्या=स्वरूपेण=कार्य-दर्शनेन गण्यते=परिचीयत इति आकृति-गणः। अर्थः—(अयम्) यह शकन्धु आदि शब्दों का समूह (आकृति-गणः) आकृति से गिना जाता है। इस का भाव यह है कि शकन्ध्वादि जितने शब्द गण में पढ़े गये हैं, ये इतने ही हैं; ऐसा नहीं समझना चाहिये। किन्तु जिस २ शब्द में पर-रूप-कार्य हुआ दीखे पर कोई विधायक वचन न हो उसे शकन्ध्वादि-गण में गिन लेना चाहिये[1]। यथा—'मार्तण्ड' शब्द लोक में प्रसिद्ध है, इस में पररूप हुआ मिलता है; अतः इसे भी शकन्ध्वादिगण के अन्तर्गत समझना चाहिये। इस की साधन-प्रक्रिया यथा—'मृतञ्चाऽदोऽण्डम्' इस कर्मधारय-समास में विभक्तियों का लुक् हो कर 'मृत+अण्ड' हो जाता है। अब तकारोत्तर अवर्ण तथा 'अण्ड' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह पररूप एकादेश करने से मृत् 'अ' ण्ड='मृतण्ड' बन जाता है। मृतण्डे भवः=मार्तण्डः,[2] यहां **तत्र भवः** (१०९२) से अण्, **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदि-वृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से अकार का लोप हो जाता है। केचिदत्र—मृतोऽण्डो यस्य सः=मृतण्डः, मृतण्डस्य अपत्यम्=मार्तण्डः, **तस्यापत्यम्** (१००४) इत्यण् इत्येवं विगृह्णन्ति।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४०) **ओमाङोश्च**।६।१।९२॥

ओमि आङि चात् परे पररूपमेकादेशः स्यात्। शिवायोन्नमः। 'शिव+एहि' इति स्थिते—

अर्थः—अवर्ण से ओम् अथवा आङ् परे हो तो पूर्व+पर के स्थान पर एक पर-रूप आदेश हो जाता है।

व्याख्या—आत्।५।१। (**आद् गुणः** से)। ओमाङोः।७।२। च इत्यव्ययपदम्। पूर्व-परयोः।६।२। एकः।१।१। (**एकः पूर्व-परयोः** यह अधिकृत है)। पर-रूपम्।१।१। (**एङि पररूपम्** से)। समासः—ओम् च आङ् च=ओमाङौ, तयोः=ओमाङोः, इतरेतरद्वन्द्वः। **अर्थः**—(आत्) अवर्ण से (ओमाङोः) ओम् अथवा आङ् परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (पररूपम्) पररूप (एकः) एकादेश हो जाता

---

१. इस गण के आकृति-गण होने में **प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्** (१.३.४२) [सम+अर्थाभ्याम्], **व्यवहृपणोः समर्थयोः** (२.३.५७) [सम+अर्थयोः] इत्यादि पाणिनि के निर्देश प्रमाण हैं।

२. मार्त्तण्डः=मरे हुए अण्डे में होने वाला=सूर्य, इस की कथा मार्कण्डेय-पुराण के १०५वें अध्याय में देखें।

है। 'ओम्' यह अव्यय तथा 'आङ्' यह उपसर्ग है। 'आङ्' के ङकार की प्रयोग-दशा में **हलन्त्यम्** (१) सूत्र से 'इत्' सञ्ज्ञा हो जाती है; अतः **तस्य लोपः** (३) से लोप होने के कारण 'आ' शेष रह जाता है। उदाहरण यथा—

शिवायोन्नमः [ओं नमः शिवाय=शिव जी के प्रति नमस्कार हो]। 'शिवाय+ओन्नमः' ['ओम्+नमः' यहां **मोऽनुस्वारः** (७७) से मकार को अनुस्वार हो कर **वा पदान्तस्य** (८०) से उसे वैकल्पिक परसवर्ण नकार हो जाता है] यहां यकारोत्तर अवर्ण से 'ओम्' परे है, अतः पूर्व=अवर्ण और पर=ओकार के स्थान पर 'ओ' यह एक पररूप आदेश हो कर शिवाय् 'ओ' न्नमः='शिवायोन्नमः' प्रयोग सिद्ध होता है।

शिवेहि (शिव जी आओ)। 'शिव ! आ+इहि' यहां **आद् गुणः** (२७) सूत्र से 'आ+इ' के स्थान पर 'ए' यह गुण एकादेश हो कर—'शिव एहि' रूप बना। अब यहां 'आङ्' न होने से **ओमाङोश्च** (४०) सूत्र प्राप्त नहीं होता; इस पर 'ए' में आङ्त्व लाने के लिये अग्रिम अतिदेश-सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—**(४१) अन्तादिवच्च** ।६।१।८२॥

योऽयमेकादेशः स पूर्वस्यान्तवत् परस्यादिवत् स्यात्। शिवेहि॥

अर्थः—(पूर्व और पर के स्थान पर) जो यह एकादेश किया जाता है वह पूर्व के अन्त के समान तथा पर के आदि के समान होता है।

व्याख्या—एकः ।१।१। पूर्व-परयोः ।६।२। (**एकः पूर्व-परयोः** से)। अन्तादिवत् इत्यव्ययपदम्। च इत्यव्ययपदम्। समासः—अन्तश्च आदिश्च=अन्तादी, इतरेतर-द्वन्द्वः। अन्तादिभ्यां तुल्यम्=अन्तादिवत्, **तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः** (११५१) इति वति-प्रत्ययः। अर्थः—(एकः) यह एकादेश (पूर्व-परयोः) पूर्व और पर के (अन्तादिवत्) अन्त और आदि के समान होता है। तात्पर्य यह है कि **एकः पूर्व-परयोः** (६.१.८२) सूत्र से जिस एकादेश का अधिकार किया गया है वह एकादेश पूर्व के अन्त के समान तथा पर के आदि के समान होता है। इस सम्पूर्ण एकादेश के अधिकार में पूर्व और पर वर्ण ही स्थानी है; इन वर्णों के एकादेश के अखण्ड होने से इन में अन्त और आदि नहीं बन सकते। अतः यहां पूर्व से पूर्व-वर्ण-घटित (पूर्व वर्ण वाला) शब्द तथा पर से पर-वर्ण-घटित (पर वर्ण वाला) शब्द ग्रहण किया जाता है। यथा—'क्षीरप+इन' यहां **आद् गुणः** (२७) से पकारोत्तर अकार तथा 'इन' शब्द के आदि इकार के स्थान पर 'ए' यह एक गुणादेश हो **एकाजुत्तरपदे णः** (२८६) से णत्व करने पर 'क्षीरपेण' बनता है। यहां एकादेश 'ए' है। यह 'ए' पूर्व-शब्द अर्थात् 'क्षीरप' शब्द के अन्त=अ के समान तथा पर-शब्द अर्थात् 'इन' के आदि=इ के समान होगा। अर्थात् इस 'ए' को अकार मान कर अकाराश्रित कार्य तथा इकार मान कर इकाराश्रित कार्य हो जाएंगे। इस सूत्र के उदाहरण 'काशिका' आदि व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखने चाहियें।

'शिव+एहि' यहां 'ए' यह एकादेश है। यह एकादेश पूर्व शब्द के अन्त के

समान होगा। पूर्व शब्द 'आ' है। इस का अन्त भी 'आ' है। (क्योंकि एक अक्षर में—वही अपना आदि और वही अपना अन्त हुआ करता है। जैसे किसी का एक पुत्र हो तो उस के लिये वही बड़ा और वही छोटा हुआ करता है) अतः यह 'आ' 'आङ्' के सदृश होगा अर्थात् जो २ कार्य 'आङ्' के रहने पर हो सकते हैं, वे इस के रहने पर भी होंगे। 'आङ्' के होने से **ओमाङोश्च** (४०) सूत्र प्रवृत्त होता है, वह अब 'ए' के होने से भी होगा। तो इस प्रकार **ओमाङोश्च** (४०) सूत्र से पूर्व+पर के स्थान पर एक पररूप 'ए' हो कर—शिव् 'ए' हि='शिवेहि' प्रयोग सिद्ध होता है।

शङ्का—**ओमाङोश्च** (४०) सूत्र में यदि 'आङ्' का ग्रहण न भी करें तो भी 'शिवेहि' आदि रूप यथेष्ट सिद्ध हो सकते हैं। तथाहि—'शिव+आ+इहि' यहां प्रथम **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्ण-दीर्घ हो—'शिवा+इहि' बन जायेगा, पुनः **आद् गुणः** (२७) द्वारा गुण एकादेश करने से—'शिवेहि' प्रयोग सिद्ध हो जायेगा। तो **ओमाङोश्च** (४०) सूत्र में 'आङ्' ग्रहण क्यों किया गया है?

समाधान—पाणिनीय-व्याकरण में **असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे** यह एक परिभाषा है। इस का अभिप्राय यह है कि जहां अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कार्य युगपत्=इकट्ठे उपस्थित हों वहां बहिरङ्ग को असिद्ध समझ कर प्रथम अन्तरङ्ग कार्य कर लेना चाहिये। बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग कार्यों का विस्तार-पूर्वक विचार व्याकरण के उच्च-ग्रन्थों में किया गया है वहीं देखें। यहां इतना समझ लेना चाहिये कि **धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्** अर्थात् धातु और उपसर्ग का पारस्परिक कार्य अन्तरङ्ग होता है। 'शिव+आ+इहि' यहां 'आ' यह उपसर्ग तथा 'इहि' यह धातु है। अतः 'आ+इ' के स्थान पर गुण कार्य अन्तरङ्ग होने से प्रथम होगा; सवर्ण-दीर्घ बहिरङ्ग होने से प्रथम न होगा। इस से जब 'शिव+एहि' बन जायेगा तब यदि **ओमाङोश्च** (४०) में 'आङ्' का ग्रहण न करेंगे तो **वृद्धिरेचि** (३३) से वृद्धि एकादेश होकर—'शिवैहि' ऐसा अनिष्ट प्रयोग बन जायेगा। अतः इस की निवृत्ति के लिये सूत्र में 'आङ्' का ग्रहण अत्यावश्यक है।

नोट—ध्यान रहे कि **ओमाङोश्च** (४०) सूत्र **वृद्धिरेचि** (३३) तथा **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) दोनों का अपवाद है।

अभ्यास (६)

(१) आकृति-गण किसे कहते हैं? शकन्ध्वादि-गण के आकृति-गण होने में क्या प्रमाण है? सविस्तर प्रकाश डालें।

(२) 'न+एजते' में **एङि पररूपम्**, 'अव+एहि' में **एत्येधत्यूठ्सु**, 'लाङ्गल+ईषा' में **आद् गुणः**, 'कुल+अटा' में **अकः सवर्णे दीर्घः** सूत्र क्यों प्रवृत्त नहीं होते?

(३) **तच्च टेः** यह किस की उक्ति है? इस का अभिप्राय स्पष्ट करें।

(४) **अन्तादिवच्च** की आवश्यकता बताते हुए सूत्रार्थ पर प्रकाश डालें।

(५) 'कर्कन्धुः' पर क्षीरस्वामी के मत का खण्डन करें।
(६) सारङ्गः-साराङ्गः; सीमन्तः-सीमान्तः; कुलटा-कुलाटी; इन पदयुगलों का सप्रमाण परस्पर भेद निरूपण करें।
(७) अधोलिखित प्रयोगों में सन्धिच्छेद कर उसे सूत्रों द्वारा प्रमाणित करें—
१. कोमित्यवोचत् । २. प्रेषयति । ३. पतञ्जलिः । ४. कदोढा (कदा+आङ्+ऊढा) । ५. उपेहि । ६. मार्तण्डः । ७. अवेजते । ८. लाङ्गलीषा । ९. प्रोषति । १०. मनीषा । ११. प्रेषणीयम् । १२. कृष्णेहि । १३. अश्मन्तकः (शकन्ध्वादि०) ।
(८) निम्न-लिखित वचनों की सोदाहरण व्याख्या करें—
१. यथा देवदत्तस्यैकः पुत्रः स एव ज्येष्ठः स एव कनिष्ठः । २. असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे । ३. धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम् ।
(९) 'टि' संज्ञा-विधायक सूत्र का सोदाहरण विवेचन करें।

——::०::——

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४२) **अकः सवर्णे दीर्घः ।६।१।९७।।**

अकः सवर्णेऽचि परे पूर्वपरयोर्दीर्घ एकादेशः स्यात् । दैत्यारिः । श्रीशः । विष्णूदयः । होतॄकारः ।।

अर्थः—अक् से सवर्ण अच् परे होने पर पूर्व+पर के स्थान में दीर्घ एकादेश हो जाता है।

व्याख्या—अकः ।५।१। सवर्णे ।७।१। अचि ।७।१। (**इको यणचि** से) । पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। (**एकः पूर्वपरयोः** यह अधिकृत है) । दीर्घः ।१।१। अर्थः—(अकः) अक् से (सवर्णे) सवर्ण (अचि) अच् परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान में (एकः) एक (दीर्घः) दीर्घ आदेश हो जाता है।

अक् प्रत्याहार में 'अ, इ, उ, ऋ, ऌ' ये पांच वर्ण आते हैं; इन से परे यदि इन का कोई सवर्ण अच् हो तो इन दोनों के स्थान पर एक दीर्घ आदेश हो जाता है। यद्यपि दीर्घ अच् बहुत हैं, तथापि **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) से वही दीर्घ किया जाता है जो इन स्थानियों के तुल्य होता है। उदाहरण यथा—

(१) दैत्यारिः (दैत्यों का शत्रु—भगवान् विष्णु)। 'दैत्य+अरि' यहां यकारोत्तरवर्त्ती अकार अक् है; इस से परे 'अरि' शब्द का आदि अकार सवर्ण अच् है। अतः इन दोनों के स्थान पर **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) द्वारा 'आ' यह दीर्घ एकादेश हो कर विभक्ति लाने से—दैत्य् 'आ' रि='दैत्यारिः' प्रयोग सिद्ध होता है। दैत्यानाम् अरिः=दैत्यारिः।

(२) श्रीशः (लक्ष्मी का स्वामी=भगवान् विष्णु)। 'श्री+ईश' यहां रेफोत्तर ईकार अक् और उस से परे 'ईश' शब्द का आदि ईकार सवर्ण अच् है। इन दोनों के स्थान पर 'ई' यह सवर्ण-दीर्घ एकादेश हो कर विभक्ति लाने से—श्र् 'ई' श='श्रीशः' प्रयोग सिद्ध होता है। श्रियः ईशः=श्रीशः।

(३) विष्णूदयः (विष्णोः—तन्नामदेवविशेषस्य, सूर्यस्य वा उदयः=आविर्भाव उन्नतिर्वा विष्णूदयः, विष्णु या सूर्य का उदय)। 'विष्णु+उदय' यहां णकारोत्तर उकार 'अक्' है; इस से परे 'उदय' शब्द का आदि उकार सवर्ण अच् है अतः पूर्व+पर के स्थान पर 'ऊ' यह सवर्ण-दीर्घ एकादेश करने से—विष्ण् 'ऊ' दय='विष्णूदयः' प्रयोग सिद्ध होता है।

(४) 'होतॄकारः' (होतुर्ऋकारः=होतॄकारः। होता का ऋकार)। 'होतृ+ऋकार' यहां पूर्व+पर के स्थान पर 'ॠ' यह एक सवर्ण-दीर्घ हो कर—होत् 'ॠ' कार='होतॄकारः' प्रयोग सिद्ध होता है।

लृकार का उदाहरण अप्रसिद्ध तथा कठिन होने से यहां नहीं दिया गया; **सिद्धान्तकौमुदी** में दिया गया है, वहीं देखें। यह सूत्र अकार के विषय में **आद् गुणः** (२७) सूत्र का तथा अन्यत्र **इको यणचि** (१५) सूत्र का अपवाद है।

अभ्यास (१०)

(१) निम्नस्थ प्रयोगों में सन्धिच्छेद कर सूत्रों द्वारा उसे सिद्ध करें—
१. दण्डाग्रम्। २. मधूदके। ३. दधीन्द्रः। ४. होतॄश्यः। ५. कुमारीहते। ६. पितॄणम्। ७. विद्यानन्दः। ८. भूमीशः। ९. परमार्थः। १०. यथार्थः। ११. विधूदयः। १२. विद्यार्थी। १३. महीनः। १४. वेदाभ्यासः। १५. कमलाकरः। १६. कर्तॄणि। १७. भानूदयः। १८. पक्तॄजीषम्। १९. तरूर्ध्वम्। २०. गिरीशः।

(२) अधो-लिखित रूपों में सूत्रार्थसमन्वय करते हुए सन्धि करें—
१. कदा+अगात्। २. महती+इच्छा। ३. हरि+इन्द्र। ४. मधु+उत्तमम्। ५. कर्तृ+ऋद्धि। ६. सनक+आदि। ७. फलानि+इमानि। ८. कारु+उत्तम। ९. प्रति+ईक्षते। १०. वधू+उत्सव। ११. कदा+अत्र। १२. सती+ईश। १३. श्रद्धा+अस्ति। १४. मुनि+इन्द्र। १५. अन्त+आदि। १६. यदा+आसीत्। १७. नदी+इदानीम्। १८. तरु+उपेत। १९. भर्तृ+ऋद्धि। २०. तुल्य+आस्य।

(३) **अकः सवर्णे दीर्घः** सूत्र किस २ सूत्र का अपवाद है?

——:o:——

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४३) **एङः पदान्तादति** ।६।१।१०५॥

पदान्तादेङोऽति परे पूर्व-रूपम् एकादेशः स्यात्। हरेऽव। विष्णोऽव॥

अर्थः—पदान्त एङ् से अत् परे हो तो पूर्व+पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हो।

व्याख्या—पदान्तात् ।५।१। एङः ।५।१। अति ।७।१। पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। (**एकः पूर्व-परयोः** यह अधिकृत है)। पूर्वः ।१।१। (**अमि पूर्वः** से)। अर्थः—

(पदान्तात्) पदान्त (एङः) एङ् से (अति) अत् परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (पूर्वः) पूर्वरूप आदेश हो जाता है।

'एङ्' प्रत्याहार में 'ए, ओ' ये दो वर्ण आते हैं; यदि ये वर्ण पद के अन्त में स्थित हों और इन से परे अत् अर्थात् ह्रस्व अकार हो तो पूर्व+पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हो जाता है। यह सूत्र **एचोऽयवायावः** (२२) सूत्र का अपवाद है। उदाहरण यथा—

(१) हरेऽव (हे हरे! रक्षा करो)। 'हरे+अव' यहां 'हरे' यह सम्बोधन का एकवचनान्त होने से पद है; इस पद के अन्त वाले एकार=एङ् से 'अव' शब्द का आदि अत् परे है; अतः इन दोनों के स्थान पर प्रकृत सूत्र से एक पूर्वरूप 'ए' हो कर—हर् 'ए' व='हरेऽव' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(२) विष्णोऽव (हे विष्णो! रक्षा करो)। 'विष्णो+अव' यहां भी पूर्ववत् पूर्व=ओकार और पर=अकार के स्थान पर प्रकृत सूत्र से एक पूर्वरूप 'ओ' आदेश हो कर—विष्ण् 'ओ' व='विष्णोऽव' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

नोट—'ऽ' यह चिह्न करें या न करें अपनी इच्छा पर निर्भर है। यह केवल इस बात को प्रकट करता है कि यहां पहले अकार था[1]। कई लोग इस चिह्न को अकार समझ कर वैसा उच्चारण करते हैं, यह उन की भूल है; क्योंकि जब एकादेश हो गया तो पुनः अवर्ण कहां से आया?

सूत्र में पदान्त कहने का अभिप्राय यह है कि 'जे+अ=जयः, ने+अ=नयः, भो+अ=भवः' इत्यादि में अपदान्त एङ् से अत् परे होने पर पूर्वरूप एकादेश न हो।

अभ्यास (११)

(१) निम्न-लिखित प्रयोगों में सन्धिच्छेद कर उसे सूत्रों द्वारा प्रमाणित करें—

१. अग्नेऽत्र। २. वायोऽत्र। ३. गुरवेऽदात्। ४. रामोऽस्ति। ५. पचतेऽसौ। ६. नमोऽस्तु। ७. संसारेऽधुना। ८. सर्पोऽहम्। ९. तेऽमी। १०. ब्राह्मणोऽब्रवीत्। ११. वटोऽयम्। १२. ब्रह्मणेऽस्तु। १३. वचनोऽनुनासिकः। १४. स्थानेऽन्तरतमः। १५. पण्डितोऽपि।

(२) सूत्रार्थ-समन्वय पूर्वक सन्धि करें—

१. ते+अकर्मकाः। २. पुरुषो+अत्र। ३. वने+अस्मिन्। ४. ततो+अन्यत्र। ५. आधारो+अधिकरणम्। ६. सहयुक्ते+अप्रधाने। ७.

---

१. यह चिह्न अत्यन्त आधुनिक है, तभी तो **म्यसो म्यम्** (३२३) सूत्र के महाभाष्य में लिखा है—**किमयं 'म्यम्'शब्द आहोस्विद् 'अम्यम्'शब्दः? कुतः सन्देहः? समानो निर्देशः।** यहां **समानो निर्देशः** से सिद्ध होता है कि पहले उक्त चिह्न नहीं था; प्रत्युत भट्टोजिदीक्षित के समय में भी नहीं था। अत एव **समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे** (१.३.७५) सूत्र पर दीक्षित ने वृत्ति में ('अग्रन्थे' इतिच्छेदः) ऐसा लिखा है: यदि तब यह चिह्न होता तो 'यमोऽग्रन्थे' होने से छेद लिखना व्यर्थ था।

उपो+अधिके च । ८. अभ्यासो+अत्र । ९. को+अपि । १०. अन्धो +असौ । ११. के+अपि । १२. लोके+अत्र । १३. इको+असवर्णे । १४. एचो+अयवायाव: । १५. उपदेशे+अज् ।

(३) **एङः पदान्तादति** में 'पदान्त' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

———::०::———

[लघु०] विधि-सूत्रम् (४४) **सर्वत्र विभाषा गोः** ।६।१।११८।।

लोके वेदे चैङन्तस्य गोरति वा प्रकृतिभावः पदान्ते । गोअग्रम् । एङन्तस्य किम् ? चित्रग्वग्रम् । पदान्ते किम् ? गोः ।।

अर्थः—लोक और वेद में एङन्त 'गो' शब्द को पदान्त में विकल्प कर के प्रकृतिभाव हो जाता है ।

व्याख्या—सर्वत्र इत्यव्ययपदम्[1] । पदान्तस्य ।६।१। (**एङः पदान्तादति** से 'पदान्तात्' पद आ कर विभक्तिविपरिणाम से षष्ठचन्त हो जाता है । इसे यदि सप्तमी-विभक्ति में परिणत करें तो भी कुछ दोष नहीं होता, जैसा कि ग्रन्थकार ने वृत्ति में किया है) । एङः ।६।१। (**एङः पदान्तादति** से विभक्ति-विपरिणाम द्वारा प्राप्त होता है । यह 'गोः' पद का विशेषण है, अतः इस से **येन विधिस्तदन्तस्य** द्वारा तदन्तविधि हो कर 'एङन्तस्य' बन जाता है) । गोः ।६।१। अति ।७।१। (**एङः पदान्तादति** से) । विभाषा ।१।१। प्रकृत्या ।३।१। (**प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे** से) । अवस्थानं भवतीति शेषः । अर्थः—(सर्वत्र) चाहे यजुर्वेद हो या अन्य वेद अथवा लोक ही क्यों न हो सब जगह (पदान्तस्य) पदान्त (एङः=एङन्तस्य) जो एङ्—तदन्त (गोः) गो शब्द का (अति) अत् परे होने पर (विभाषा) विकल्प कर के (प्रकृत्या) स्वभाव से अवस्थान होजाता है । एङन्त गो शब्द से ओदन्त गो शब्द का ग्रहण समझना चाहिये; क्योंकि एदन्त गो शब्द तो कभी हो ही नहीं सकता । प्रकृति का अर्थ है स्वभाव । वर्णों का स्वभाव उन का स्वरूप ही हो सकता है । 'प्रकृति से रहते हैं या प्रकृति-भाव को प्राप्त होते हैं' इस का तात्पर्य प्रयोग का मूल अवस्था में रह जाना अर्थात् कोई विकार न होना ही है । अत एव प्रकृति-भाव-स्थल में संहिताकार्य—सन्धि नहीं होती । उदाहरण यथा—

'गो+अग्र' ('गवाम् अग्रम्' ऐसा यहां षष्ठी-तत्पुरुष-समास है) यहां यद्यपि

---

१. पीछे से 'यजुषि=यजुर्वेद में' की अनुवृत्ति आ रही थी; उस की निवृत्ति के लिये यहां 'सर्वत्र' पद का ग्रहण किया गया है । लौकिक और वैदिक के भेद से संस्कृत-भाषा दो प्रकार की होती है । लौकिक-भाषा लोक अर्थात् काव्यादि लौकिक-ग्रन्थों में या बोलचाल में प्रयुक्त होती है; यहां लौकिक-भाषा के लिये केवल 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया जाता है । यथा—**प्रत्यये भाषायां नित्यम्** (वा० ११)। वैदिक-भाषा वेद में ही प्रयुक्त होती है, उसके लिये यहां कुछ विशेष नियम हैं । परन्तु यह सूत्र 'सर्वत्र' अर्थात् दोनों भाषाओं में समानरूप से प्रवृत्त होता है ।

समास के कारण गो-शब्द से परे 'आम्' सुँप् का **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्र से लुक् हुआ २ है, तथापि **प्रत्यय-लोपे प्रत्यय-लक्षणम्** (१९०) सूत्र की सहायता से यहां **सुँप्तिङन्तं पदम्** (१४) द्वारा इस की पद-सञ्ज्ञा अक्षुण्ण है; अतः गो शब्द के अन्त में पदान्त एङ् वर्त्तमान है; इस के आगे 'अग्र' शब्द का आदि अत् भी मौजूद है। तो यहां गो-शब्द प्रकृति से अर्थात् अपने स्वरूप में सन्धि-कार्य से रहित वैसे का वैसा विकल्प से रहेगा। जहां प्रकृतिभाव होगा वहां विभक्ति लाने से—'गोअग्रम्' प्रयोग सिद्ध होगा। ध्यान रहे कि यहां प्रथम **एङः पदान्तादति** (४३) से पूर्व-रूप प्राप्त था। पुनः उस का बाध कर **अवङ् स्फोटायनस्य** (४७) से वैकल्पिक अवङ् प्राप्त होता था। यह सूत्र उस का अपवाद समझना चाहिये। जहां प्रकृति-भाव नहीं होगा वहां **अवङ् स्फोटायनस्य** (४७) सूत्र प्रवृत्त होगा[1]।

यहां 'एङन्त' कहने का यह प्रयोजन है कि ओदन्त गो शब्द को ही प्रकृति-भाव हो, उकारान्त गोशब्द को न हो। यद्यपि गोशब्द स्वयम् ओदन्त है उकारान्त नहीं; तथापि समास में **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (९५२) सूत्र से ह्रस्व करने पर उका-रान्त हो जाया करता है। उदाहरण यथा—'चित्रगु+अग्र' [चित्रा गावो यस्य स चित्रगुः, बहुव्रीहि-समासः। चित्रगोरग्रम् इति षष्ठी-तत्पुरुष-समासे सुँब्लुकि रूपमिदम्] यहां गोशब्द के एङन्त न होने से **सर्वत्र विभाषा गोः** (४४) से प्रकृतिभाव नहीं होता; **इको यणचि** (१५) से उकार को वकार हो कर विभक्ति लाने पर 'चित्रग्वग्रम्' प्रयोग बन जाता है[2]।

यहां गोशब्द को पदान्त में प्रकृतिभाव इसलिये कहा गया है कि अपदान्त में प्रकृतिभाव न हो जाये। यथा—'गो+अस्' (यहां गोशब्द से ङसिँ वा ङस् प्रत्यय किया गया है) यहां पदान्त न होने से यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता, **ङसि-ङसोश्च** (१७३) सूत्र से पूर्वरूप हो कर सकार को रुँत्व-विसर्ग करने से 'गोः' प्रयोग बन जाता है। इस की विशेषतया सिद्धि 'अजन्त-पुल्ँलिङ्ग-प्रकरण' में 'गो' शब्द पर देखें[3]।

---

१. यहां कई लोग विकल्प-पक्ष में **एङः पदान्तादति** (४३) से पूर्वरूप कर 'गोऽग्रम्' ऐसा मूल में पाठ लिखते हैं; यह उन की भूल है क्योंकि यह सूत्र **अवङ् स्फोटायनस्य** (४७) सूत्र का अपवाद है, **एङः पदान्तादति** (४३) सूत्र का नहीं; अतः इस के प्रवृत्त हो चुकने पर पक्ष में उसी की प्रवृत्ति करनी योग्य है। हां जब वह प्रवृत्त हो चुकेगा तब वैकल्पिक होने से पक्ष में **एङः पदान्तादति** (४३) सूत्र भी प्रवृत्त हो जायेगा।

२. ध्यान रहे कि यदि किसी अवयवी का एक अवयव विकृत हो जाये तो भी वह वही रहता है अन्य नहीं हो जाता; यथा—यदि किसी कुत्ते की पूंछ कट जाए तो भी वह कुत्ता ही रहता है अन्य नहीं हो जाता। इसी प्रकार यहां यद्यपि गो शब्द का अवयव ओकार विकृत हो कर उकार बन गया है; तथापि वह गो शब्द ही रहता है—**एकदेशविकृतमनन्यवत्** (परिभाषा)।

३. 'हे चित्रगोऽग्रम्' में भी प्रकृतिभाव न होगा, क्योंकि यहां एङ् लाक्षणिक (कृत्रिम)

अब प्रकृतिभाव के अभाव-पक्ष में **अवङ् स्फोटायनस्य** (४७) सूत्र प्रवृत्त करने के लिये दो परिभाषाएं लिखते हैं—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—**(४५) अनेकाल् शित् सर्वस्य ।१।१।५४।।**

[अनेकाल् य आदेशः शिच्च, स सर्वस्य षष्ठी-निर्दिष्टस्य स्थाने स्यात् ।] इति प्राप्ते—

(यहां पर वृत्ति हम ने जोड़ी है; ग्रन्थकार ने स्पष्ट होने से नहीं लिखी)

अर्थः—जिस आदेश में अनेक अल् (वर्ण) हों तथा जिस का शकार इत्सञ्ज्ञक हो वह आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होता है । इस परिभाषा के प्राप्त होने पर [अग्रिम परिभाषा प्रवृत्त हो जाती है] ।

व्याख्या—अनेकाल् ।१।१। शित् ।१।१। सर्वस्य ।६।१। समासः—न एकः= अनेकः, नञ्तत्पुरुषः । अनेकोऽल् यस्य सः=अनेकाल्, बहुव्रीहि-समासः । श् (शकारः) इत् यस्य स शित्, बहुव्रीहि-समासः । अर्थः—(अनेकाल्) अनेक अलों वाला तथा (शित्) शकार इत् वाला आदेश (सर्वस्य) सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होता है ।

'अल्' प्रत्याहार में सम्पूर्ण वर्ण आ जाते हैं; अतः अल् या वर्ण पर्याय अर्थात् एकार्थ-वाची शब्द हैं । जिस आदेश में एक से अधिक अल् या वर्ण हों अथवा जिस आदेश के शकार की इत्सञ्ज्ञा होती हो तो वह आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होगा । **अलोऽन्त्यस्य** (२१) सूत्र कहता है कि आदेश स्थानी के अन्त्य अल् को हो; परन्तु यह सूत्र अनेकाल् तथा शित् आदेशों को सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होना बतलाता है । अतः यह सूत्र **अलोऽन्त्यस्य** (२१) सूत्र का अपवाद हैं ।[1]

अनेकाल् आदेश का उदाहरण यथा—रामैः । यहां 'भिस्' स्थानी के सम्पूर्ण स्थान पर **अतो भिस ऐस्** (१४२) से ऐस् आदेश होता है । ऐस् में दो अल् हैं अतः यह अनेकाल् है । यह सूत्र न होता तो **अलोऽन्त्यस्य** (२१) द्वारा भिस् के अन्त्य सकार को फिर उस के बाधक **आदेः परस्य** (७२) से आदि को 'ऐस्' हो जाता ।

शित् आदेश का उदाहरण यथा—इतः । यहां 'इदम्' स्थानी के सम्पूर्ण स्थान पर **इदम इश्** (१२०१) से इश् आदेश होता है । इश् शित् है । यह सूत्र न होता तो **अलोऽन्त्यस्य** (२१) द्वारा 'इदम्' के अन्त्य मकार को इश् हो जाता ।

शङ्का—जितने 'इश्' आदि शित् आदेश हैं वे सब अनेक अलों वाले हैं; अनेकाल् होने के कारण ही वे सब सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर हो सकते हैं । पुनः सूत्र में 'शित्' के लिये विशेष यत्न क्यों किया गया है ?

समाधान—इस प्रकार शित् ग्रहण के विना भी कार्य के सिद्ध हो जाने से महामुनि पाणिनि यह परिभाषा जतलाना चाहते हैं कि **नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्**

है प्रतिपदोक्त (स्वाभाविक) नहीं—**लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्** (प०) ।

१. इसी प्रकार **आदेः परस्य** (७२) सूत्र का भी यह अपवाद समझना चाहिये ।

अर्थात् अनुबन्धों के कारण किसी को अनेकाल् नहीं मान लेना चाहिये जब तक कि उस के अन्य अल् अनेक न हों। जिस की इत्सञ्ज्ञा होती है उसे अनुबन्ध कहते हैं। 'इश्' आदि में शकार आदि की इत्सञ्ज्ञा होती है अतः शकार आदि अनुबन्ध हैं। अब यदि 'इश्' में अनुबन्ध शकार को छोड़ दें तो केवल 'इ' रह जाता है। तब यह अनेकाल् नहीं रहता; अतः यह सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर प्राप्त नहीं हो सकता। इस लिये 'शित्' ग्रहण आवश्यक है।

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—(४६) **ङिच्च** ।१।१।५२॥

ङिदनेकालप्यन्त्यस्यैव स्यात् ॥

अर्थः—ङित् आदेश चाहे अनेकाल् भी क्यों न हो अन्त्य अल् के स्थान पर ही होता है।

व्याख्या—ङित् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । अन्त्यस्य ।६।१। (**अलोऽन्त्यस्य** से)। समासः—ङ् (ङकारः) इत् यस्य स ङित्, बहुव्रीहि-समासः । अर्थः—(ङित्) ङकार इत् वाला आदेश (अन्त्यस्य) अन्त्य (अलः) अल् के स्थान पर होता है। यह सूत्र **अनेकाल् शित् सर्वस्य** (४५) सूत्र का अपवाद है। जिस आदेश के ङकार की इत्सञ्ज्ञा होती हो फिर वह चाहे अनेक अलों वाला भी क्यों न हो सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर न होकर अन्त्य अल् के स्थान पर ही होगा। इस सूत्र का उदाहरण अग्रिम सूत्र पर देखें।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४७) **अवङ् स्फोटायनस्य** ।६।१।११९॥

पदान्ते एङन्तस्य गोरवङ् वा स्यादचि । गवाग्रम् । गोऽग्रम् । पदान्ते किम् ? गवि ॥

अर्थः—पदान्त में जो एङ्, तदन्त गो-शब्द को अच् परे होने पर विकल्प कर के अवङ् आदेश हो जाता है।

व्याख्या—पदान्तस्य ।६।१। (**एङः पदान्तादति** से विभक्ति-विपरिणाम कर के प्राप्त होता है। इस का सप्तमी विभक्ति में भी विपरिणाम हो सकता है जैसा कि ग्रन्थकार ने किया है)। एङः ।६।१। (**एङः पदान्तादति** से विभक्ति-विपरिणाम कर के प्राप्त होता है; यह 'गोः' पद का विशेषण है, अतः इस से तदन्त-विधि हो कर 'एङन्तस्य' बन जाता है)। गोः ।६।१। (**सर्वत्र विभाषा गोः** से)। अचि ।७।१। (**इको यणचि** से)। अवङ् ।१।१। स्फोटायनस्य ।६।१। (यहां 'स्फोटायन' ग्रहण उस के सत्कार के लिये है, क्योंकि 'विभाषा' पद तो पीछे से आ ही जाता है)। अर्थः—(पदान्तस्य) पद के अन्त वाला (एङन्तस्य) जो एङ्, तदन्त (गोः) गो-शब्द के स्थान पर (अचि) अच् परे रहते (अवङ्) अवङ् आदेश हो जाता है (स्फोटायनस्य) स्फोटायन आचार्य के मत में।

'स्फोटायन' पाणिनि से पूर्ववर्त्ती व्याकरण के आचार्य हो चुके हैं; कहते हैं कि ये वैयाकरणों में प्रसिद्ध स्फोटतत्त्व के उपज्ञाता थे। इस सूत्र में पाणिनि ने उन

के मत का उल्लेख किया है। यह 'अवङ्' आदेश स्फोटायन आचार्य के मत में होता है; अन्य आचार्यों के मत में नहीं होता। हमें सब आचार्य प्रमाण हैं; अतः अवङ् आदेश विकल्प से होगा[1]। उदाहरण यथा—

'गो+अग्र' यहां समास में षष्ठी के बहुवचन 'आम्' का लुक् हुआ है; अतः **प्रत्यय-लोपे प्रत्यय-लक्षणम्** (१९०) द्वारा **सुँप्तिङन्तं पदम्** (१४) से 'गो' की पद-सञ्ज्ञा है। इस के अन्त में पदान्त एङ्=ओ वर्त्तमान है। इस से परे 'अग्र' शब्द का आदि अकार अच् भी वर्त्तमान है। अतः इस सूत्र से 'गो' को अवङ् आदेश प्राप्त होता है। **अलोऽन्त्यस्य** (२१) से इस आदेश की अन्त्य अल्=ओकार के स्थान पर प्राप्ति होती है, परन्तु अनेक अलों वाला होने के कारण **अनेकाल् शित् सर्वस्य** (४५) द्वारा सम्पूर्ण 'गो' के स्थान पर प्राप्त होता है। पुनः **ङिच्च** (४६) सूत्र की सहायता से अन्त्य अल् 'ओ' को अवङ् आदेश हो कर—'ग् अवङ्+अग्र' हो जाता है। अब ङकार की **हलन्त्यम्** (१) से इत्सञ्ज्ञा और **तस्य लोपः** (३) से लोप हो **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्ण-दीर्घ एकादेश करने पर—'गवाग्र' वना। अब विभक्ति लाने से—'गवाग्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है। जिस पक्ष में अवङ् आदेश नहीं होता वहां **एङः पदान्तादति** (४३) से पूर्व-रूप हो कर 'गोऽग्रम्' प्रयोग बन जाता है। इस प्रकार प्रकृतिभाव वाले रूप सहित कुल तीन रूप हो जाते हैं।

प्रकृतिभाव के पक्ष में—	(१) गोअग्रम्।	[**सर्वत्र विभाषा गोः**]।
प्रकृतिभाव के अभाव में—	(२) गवाग्रम्।	[**अवङ् स्फोटायनस्य**]।
	(३) गोऽग्रम्।	[**एङः पदान्तादति**]।

यहां पदान्त-ग्रहण इस लिये किया है कि अपदान्त एङन्त 'गो' को अवङ् न हो। यथा—गो+इ=गवि। यहां गो-शब्द से परे सप्तमी का एकवचन 'ङि' प्रत्यय किया गया है; अतः यहां गो-शब्द पदान्त नहीं। इस लिये अवङ् आदेश न हो कर **एचोऽयवायावः**(२२)से अव् आदेश हो जाता है। इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१. गवेशः, गवीशः। २. गवेश्वरः, गवीश्वरः। ३. गोअधिपः, गवाधिपः, गोऽधिपः। ४. गवेच्छा, गविच्छा। ५. गवोदयः, गवुदयः। ६. गवर्द्धिः, गवृद्धिः। ७. गवोढः, गवुढः। ८. गवानृतम्। ९. गवाक्षः। १०. गवादनी।

ध्यान रहे कि अवङ् आदेश में केवल ङकार की ही इत्सञ्ज्ञा होती है।

---

१. वैयाकरण इस विभाषा अर्थात् विकल्प को क्वचित् व्यवस्थितविभाषा मानते हैं। जो विकल्प व्यवस्थित अर्थात् निश्चितरूप से कहीं नित्य प्रवृत्त हो और कहीं बिलकुल नहीं उसे व्यवस्थितविभाषा कहते हैं। यह अवङ् आदेश गवाक्ष (झरोखा), गवादनी (चरागाह) आदि प्रयोगों में नित्य प्रवृत्त होता है, वहां इस के 'गोअक्षः, गोऽक्षः' आदि रूप नहीं बनते। परन्तु इसे सर्वत्र व्यवस्थितविभाषा भी नहीं समझना चाहिये जैसा कि मूलोक्त उदाहरण में इसे व्यवस्थितविभाषा नहीं माना गया।

वकारोत्तर अकार अनुनासिक नहीं, अतः **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) सूत्र से उस की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती। यदि इस की भी इत्सञ्ज्ञा हो जाती तो लोप हो जाने से 'गवाग्रम्, गवाधिपः' आदि में सवर्णदीर्घ तथा 'गवेश्वरः, गवर्द्धिः' आदि में गुण न हो सकता। इस में प्रमाण है आचार्य पाणिनि का सूत्र—**गवाश्वप्रभृतीनि च** (२.४.११)।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(४८) इन्द्रे च।६।१।१२०॥**

गोरवङ् स्याद् इन्द्रे। गवेन्द्रः॥

अर्थः—इन्द्र शब्द परे होने पर (एङन्त) गो शब्द को अवङ् आदेश हो।

व्याख्या—एङः।६।१। (**एङः पदान्तादति** से विभक्ति-विपरिणाम द्वारा। यह 'गोः' पद का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो कर 'एङन्तस्य' बन जाता है)। गोः।६।१। (**सर्वत्र विभाषा गोः** से)। इन्द्रे।७।१। च इत्यव्ययपदम्। अवङ् ।१।१। (**अवङ् स्फोटायनस्य** से)। अर्थः—(एङः) एङन्त (गोः) गो शब्द के स्थान पर (अवङ्) अवङ् आदेश हो जाता है (इन्द्रे) इन्द्र शब्द परे होने पर। यह सूत्र **अवङ् स्फोटायनस्य** (४७) सूत्र का अपवाद है। उस से यहां विकल्प कर के अवङ् प्राप्त था; इस सूत्र से नित्य हो जाता है। उदाहरण यथा—

गवेन्द्रः (श्रेष्ठ वा बड़ा बैल)। गो+इन्द्र (गवां गोषु वा इन्द्रः=श्रेष्ठः)=ग् अवङ्+इन्द्र=गव+इन्द्र=गवेन्द्रः [**आद् गुणः**(२७)]।

'एङन्त' इस लिये कहा है कि चित्रगु+इन्द्र (चित्रगूनामिन्द्रः=स्वामी, षष्ठी-तत्पुरुषः)=चित्रग्विन्द्रः। यहां एङन्त न होने से अवङ् आदेश न हो कर **इको यणचि** (१५) से यण्=वकार हो जाता है। ध्यान रहे कि सूत्र की वृत्ति में 'एङन्त' कहना ग्रन्थकार से छूट गया है। यहां 'पदान्त' की अनुवृत्ति लाने की कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि अपदान्त में एङन्त गो से परे इन्द्र शब्द कभी आ ही नहीं सकता।

नोट—काशिकाकार जयादित्य ने इस सूत्र से अगले **प्लुत-प्रगृह्या अचि नित्यम्** (६.१.१२१) सूत्र में 'नित्यम्' पद का ग्रहण नहीं किया, किन्तु इसी **इन्द्रे च** (६.१.१२०) सूत्र में ही 'नित्यम्' पद का ग्रहण किया है। पर ऐसा मानना ठीक प्रतीत नहीं होता; क्योंकि यहां 'नित्यम्' पद के ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं। यदि यह कहा जाये कि—यहां 'नित्यम्' पद ग्रहण न करने से **इन्द्रे च** (४८) सूत्र विकल्प से अवङ् करता, क्योंकि **सर्वत्र विभाषा गोः** (४४) से 'विभाषा' पद की अनुवृत्ति आ रही है—तो यह ठीक नहीं; क्योंकि **इन्द्रे च** (४८) सूत्र तो आरम्भ-सामर्थ्य से ही नित्य हो जायेगा, उस के लिये 'नित्यम्' पद के ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(४९) दूराद् धूते च।८।२।८४॥**

दूरात् सम्बोधने वाक्यस्य टेः प्लुतो वा स्यात्॥

अर्थः—दूर से सम्यग्बोध कराने में प्रयुक्त जो वाक्य उस की टि को विकल्प कर के प्लुत हो जाता है।

व्याख्या—दूरात्।५।१। हूते।७।१। च इत्यव्ययपदम्। वाक्यस्य।६।१। टेः।६।१।

प्लुतः ।१।१।(**वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः** यह अधिकार आ रहा है)। वा इत्यव्ययपदम् । [भाष्यकार ने सम्पूर्ण प्लुत के प्रकरण को विकल्प कर दिया है; अतः यहां पर 'वा' प्राप्त हो जाता है] । **ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च** (भ्वा० उ०) धातु से भाव में 'क्त' प्रत्यय करने पर 'हूत' शब्द सिद्ध होता है । इस का अर्थ 'बुलाना' है । परन्तु यहां इस से 'सम्बोधन=अच्छी तरह से जनाना' अर्थ अभिप्रेत है। अर्थः—(दूरात्) दूर से (हूते) सम्यग्बोध कराने में प्रयुक्त (वाक्यस्य) जो वाक्य उस की (टेः) टि के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (प्लुतः) प्लुत हो जाता है ।

जिस देश में ठहरे हुए का वाक्य सम्बोध्यमान [सम्यक् जनाया जाता हुआ] साधारण प्रयत्न से न सुन सके किन्तु विशेष प्रयत्न से सुन सकता हो उस देश को 'दूर' कहते हैं । उस दूर देश से किसी को कुछ जनाने या बुलाने के लिये जो वाक्य प्रयुक्त किया जाता है उस की टि को विकल्प कर के प्लुत होता है। उदाहरण यथा—हम से देवदत्त ऐसे स्थान पर ठहरा हुआ है जहां हम उसे साधारण प्रयत्न से बोल कर कुछ बोध नहीं करा सकते; तो अब हमारा स्थान 'दूर' हुआ । इस दूर स्थान से हम ने जो 'एहि देवदत्त !' 'सक्तून् पिब देवदत्त !' इत्यादि वाक्य प्रयुक्त किये उन वाक्यों की टि को विकल्प कर के प्लुत होगा ।

(प्लुत-पक्ष में)	(प्लुताभाव-पक्ष में)
(१) एहि देवदत्त ३ !	(१) एहि देवदत्त !
(२) सक्तून् पिब देवदत्त ३ !	(२) सक्तून् पिब देवदत्त !

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि जिस वाक्य में हूयमान (सम्यग् जनाया जाता हुआ) अन्त में होगा उसी वाक्य की टि को प्लुत होगा; जहां हूयमान अन्त में न होगा उस वाक्य की टि को प्लुत न होगा । यथा—'देवदत्त ! एहि', 'देवदत्त ! सक्तून् पिब' यहां हूयमान=देवदत्त अन्त में नहीं है; अतः वाक्य की टि को प्लुत न होगा । किञ्च वाक्य की टि को होने वाला यह प्लुत हलन्त टि के अच् के स्थान पर ही होता है क्योंकि प्लुत अचों का ही धर्म माना गया है । यथा—सक्तून् पिब यक्ष-वर्म३न् ! । यहां 'अन्' टि के अकार को ही प्लुत हुआ है ।

इस प्रकार प्लुत का विधान कर अब उस का यहां उपयोग दिखाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५०) **प्लुत-प्रगृह्या अचि नित्यम्** ।६।१।१२१।।

एतेऽचि प्रकृत्या स्युः । आगच्छ कृष्ण ३ ! अत्र गौश्चरति ।।

अर्थः—प्लुत और प्रगृह्य-सञ्ज्ञक अच् परे होने पर प्रकृति से रहते हैं ।

व्याख्या—प्लुत-प्रगृह्याः ।१।३। अचि ।७।१। नित्यम् ।२।१। (क्रियाविशेषण-मेतत्) । प्रकृत्या ।३।१। (**प्रकृत्यान्तःपादम्** से) । समासः—प्लुताश्च प्रगृह्याश्च = प्लुत-प्रगृह्याः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(प्लुत-प्रगृह्याः) प्लुत और प्रगृह्य-सञ्ज्ञक (अचि) अच् परे होने पर (नित्यम्) नित्य (प्रकृत्या) प्रकृति से=स्वभाव से=वैसे के वैसे अर्थात् सन्धि-कार्य से रहित रहते हैं । उदाहरण यथा—'आगच्छ कृष्ण ३ !

अत्र गौश्चरति' (आओ कृष्ण ! यहां गौ चर रही है)। यहां 'आगच्छ कृष्ण' यह एक वाक्य है। इस की टि=णकारोत्तर अकार को **दूराद् धूते च** (४९) से वैकल्पिक प्लुत होता है। जिस पक्ष में प्लुत होता है वहां प्रकृतिभाव हो जाने से णकारोत्तर प्लुत अकार तथा 'अत्र' शब्द के आदि अकार के स्थान पर **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ नहीं होता; वैसे का वैसा अर्थात् 'आगच्छ कृष्ण ३ ! अत्र गौश्चरति' ही रहता है। जिस पक्ष में प्लुत नहीं होता वहां प्रकृतिभाव न होने से सवर्णदीर्घ हो जाता है—आगच्छ कृष्णात्र गौश्चरति। इस के अन्य उदाहरण यथा—

प्रकृतिभावपक्षे	प्रकृतिभावाऽभावे
(१) आगच्छ हरे ३ ! अत्र क्रीडेम।	(१) आगच्छ हरेऽत्र क्रीडेम।
(२) कार्यं कुरु राम ३ ! एष आगतः।	(२) कार्यं कुरु रामैष आगतः।
(३) आगच्छ राम ३ ! अत्रास्ति सीता।	(३) आगच्छ रामात्रास्ति सीता।
(४) सक्तून् पिब भीम ३ ! अहं गच्छामि।	(४) सक्तून् पिब भीमाहं गच्छामि।

इस सूत्र में 'नित्यम्' पद के ग्रहण का प्रयोजन **इकोऽसवर्णे०** (५९) पर देखें।

अब प्रगृह्य के उदाहरणों के लिये प्रगृह्य-सञ्ज्ञा करने वाले सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—**(५१) ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्।१।१।११॥**

ईदूदेदन्तं द्विवचनं प्रगृह्यं स्यात्। हरी एतौ। विष्णू इमौ। गङ्गे अमू॥

अर्थः—ईदन्त ऊदन्त तथा एदन्त द्विवचन प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—ईदूदेत्।१।१। द्विवचनम्।१।१। प्रगृह्यम्।१।१। समासः—ईच्च ऊच्च एच्च=ईदूदेत्, समाहारद्वन्द्वः। तपरकरणमसन्देहार्थम्। 'ईदूदेत्' यह पद 'द्विवचनम्' पद का विशेषण है; अतः **येन विधिस्तदन्तस्य** द्वारा इस से तदन्त-विधि हो जाती है। अर्थः—(ईदूदेत्) ईदन्त, ऊदन्त तथा एदन्त (द्विवचनम्) द्विवचन (प्रगृह्यम्) प्रगृह्यसञ्ज्ञक हों। उदाहरण यथा—

'हरी एतौ' (ये दो हरि अर्थात् घोड़े वा बन्दर हैं) यहां रेफोत्तर ईकार ईदन्त द्विवचन है[1]। इस की इस सूत्र से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होती है। प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होने से **प्लुत-प्रगृह्या अचि नित्यम्** (५०) सूत्र द्वारा प्रकृतिभाव हो जाता है; अतः एकार=अच् परे होने पर भी **इको यणचि** (१५) से ईकार को यण् नहीं होता।

'विष्णू इमौ' (ये दो विष्णु हैं) यहां णकारोत्तर ऊकार ऊदन्त द्विवचन है; इस की इस सूत्र से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होती है। प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होने से **प्लुत-प्रगृह्या अचि नित्यम्** (५०) सूत्र द्वारा प्रकृतिभाव हो जाता है। अतः अच् परे होने पर भी **इको यणचि** (१५) से ऊकार को यण् नहीं होता।

---

१. हरि शब्द से प्रथमा या द्वितीया का द्विवचन 'औ' आने पर **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** (१२६) से रेफोत्तर इकार तथा औ के स्थान पर पूर्व-सवर्ण-दीर्घ ईकार हो कर 'हरी' सिद्ध होता है। यहां 'ई' यह एकादेश परादिवद्भाव (**अन्तादिवच्च**) से द्विवचन तथा व्यपदेशिवद्भाव से ईदन्त है। इसी प्रकार 'विष्णू' में 'ऊ' को जानें।

'गङ्गे अमू' (ये दो गङ्गाएं हैं) यहां गकारोत्तर एकार एदन्त द्विवचन है[1]। इस की इस सूत्र से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो जाती है। प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होने से **प्लुत-प्रगृह्या अचि नित्यम्** (५०) सूत्र द्वारा प्रकृतिभाव हो जाता है। अतः यहां **एङः पदान्तादति** (४३) सूत्र से पूर्वरूप एकादेश नहीं होता।

नोट—यहां कई विद्यार्थी 'हरी', 'विष्णू', 'गङ्गे' आदि पदों को ही ईदन्त, ऊदन्त तथा एदन्त द्विवचन माना करते हैं; यह उन की भूल हुआ करती है। इस भूल से सावधान रहना चाहिये। यहां ईकार, ऊकार तथा एकार ही ईदन्त, ऊदन्त तथा एदन्त द्विवचन हैं। प्रक्रिया ऊपर लिख दी है, आगे सुँबन्तों में स्पष्ट हो जायेगी।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(५२) अदसो मात् ।१।१।१२॥

अस्मात् परावीदूतौ प्रगृह्यौ स्तः। अमी ईशाः। रामकृष्णावमू आसाते। मात् किम्? अमुकेऽत्र॥

अर्थः—अदस् शब्द के मकार से परे ईत् और ऊत् प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—अदसः ।६।१। [अवयव-षष्ठी]। मात् ।५।१। [दिग्योगे पञ्चमी]। ईदूत् ।१।१। प्रगृह्यम् ।१।१। (**ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्** से)। अर्थः—(अदसः) अदस् शब्द के अवयव (मात्) मकार से परे (ईदूत्) ईत् और ऊत् (प्रगृह्यम्) प्रगृह्य-सञ्ज्ञक होते हैं।

'अदस्' शब्द सर्वनाम है। इसका प्रयोग दूरस्थ पदार्थ के निर्देश में होता है। यथा—असौ बालः (वह बालक है)। इस की तीनों लिङ्गों में रूपमाला यथा—

(पुंलिङ्ग में) प्र०—असौ, **अमू, अमी**। द्वि०—अमुम्, **अमू**, अमून्। तृ०—अमुना, अमूभ्याम्, अमीभिः। च०—अमुष्मै, अमूभ्याम्, अमीभ्यः। प०—अमुष्मात्, अमूभ्याम्, अमीभ्यः। ष०—अमुष्य, अमुयोः, अमीषाम्। स०—अमुष्मिन्, अमुयोः, अमीषु।

(स्त्रीलिङ्ग में) प्र०—असौ, **अमू**, अमूः। द्वि०—अमूम्, **अमू**, अमूः। तृ०—अमुया, अमूभ्याम्, अमूभिः। च०—अमुष्यै, अमूभ्याम्, अमूभ्यः। प०—अमुष्याः, अमूभ्याम्, अमूभ्यः। ष०—अमुष्याः, अमुयोः, अमूषाम्। स०—अमुष्याम्, अमुयोः, अमूषु।

(नपुंसक में) प्र०—अदः, **अमू**, अमूनि। द्वि०—अदः, **अमू**, अमूनि। आगे पुंवत्।

अदस् शब्द के मकार से परे ईत् और ऊत् पुँल्लिङ्ग में प्रथमा के बहुवचन तथा प्रथमा द्वितीया के द्विवचन में और स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग में प्रथमा द्वितीया के

---

१. गङ्गा शब्द से प्रथमा या द्वितीया का द्विवचन 'औ' आने पर **औङ आपः** (२१६) से उसे शी=ई आदेश हो कर **आद् गुणः** (२७) से गुण हो जाता है। यहां 'ए' यह एकादेश परादिवद्भाव से द्विवचन तथा व्यपदेशिवद्भाव से एदन्त है।

द्विवचन में ही उपलब्ध होते हैं[1]। इन में से स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग वाले इस सूत्र के उदाहरण नहीं होते, क्योंकि वहां पूर्वले **ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्** (५१) सूत्र से ही प्रगृह्य-सञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है। केवल पुल्ँलिङ्ग के 'अमू, अमी' इन दो रूपों के लिये ही यह सूत्र बनाया गया है। उदाहरण यथा—

अमी ईशाः (ये स्वामी हैं)। यहां पुल्ँलिङ्ग में 'अदस्' शब्द से प्रथमा का बहुवचन 'जस्' करने पर त्यदाद्यत्व, पररूप, जस् को शी आदेश तथा गुण हो कर 'अदे' बन जाता है। अब **एत ईद् बहुवचने** (८.२.८१) सूत्र से 'ए' को 'ई' तथा दकार को मकार करने से 'अमी' प्रयोग सिद्ध होता है। इस के आगे 'ईशाः' पद लाने से **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) द्वारा सवर्ण-दीर्घ प्राप्त होता है जो अब इस सूत्र से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होने से प्रकृतिभाव के कारण नहीं होता।

नोट—यहां **ईदूदेद्०** (१.१.११) की दृष्टि में 'अमी' के स्थान पर 'अदे' है क्योंकि **एत ईद् बहुवचने** (८.२.८१) सूत्र त्रिपादीस्थ होने से उस की दृष्टि में असिद्ध है। 'अदे' एदन्त तो है परन्तु द्विवचन नहीं, बहुवचन है; अतः पूर्व-सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता, इसलिये यह सूत्र बनाना पड़ा। यदि इस सूत्र (१.१.१२) की दृष्टि में भी **एत ईद् बहुवचने** (८.२.८१) सूत्र असिद्ध होने से 'अमी' के स्थान पर 'अदे' माना जाए तो यह सूत्र व्यर्थ हो जायेगा; क्योंकि तब इसे अदस् के मकार से परे ईत् ऊत् कहीं नहीं मिल सकेगा [अदस् शब्द में मकार का आना तथा उस से आगे ईत्, ऊत् का होना **एत ईद् बहुवचने** (३५७) तथा **अदसोऽसेर्दादु दो मः** (३५६) सूत्रों की ही कृपा का फल है जो दोनों असिद्ध हैं]। अतः इस की दृष्टि में 'अमी' असिद्ध नहीं होता; मकार से परे ईकार की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो जाती है।

द्वितीय उदाहरण यथा—राम-कृष्णावमू आसाते (वे दोनों बलराम और कृष्ण बैठे हैं)। यहां 'रामकृष्णौ+अमू' में **एचोऽयवायावः**(२२) से अव् आदेश हो जाता है। 'रामकृष्णौ' पद इस बात को जतलाने के लिये लिखा गया है कि 'अमू' पुल्ँलिङ्ग का है, स्त्रीलिङ्ग या नपुंसकलिङ्ग का नहीं। स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग का 'अमू' इस सूत्र का उदाहरण नहीं होता[2]। 'अमू+आसाते' यहां 'अमू' की प्रगृह्यसञ्ज्ञा होने से प्रकृतिभाव के कारण **इको यणचि** (१५) से यण् नहीं होता।

---

१. यद्यपि अदस् शब्द के मकार से परे 'अमीभ्यः, अमूभ्यः, अमीषाम्' इत्यादियों में भी ईत्, ऊत् पाये जाते हैं; तथापि यहां इन का कुछ उपयोग नहीं। क्योंकि प्रगृह्य-संज्ञा स्वरसन्धि के निषेध के लिये ही करनी होती है। इन में 'भ्यः, भ्याम्' आदियों का व्यवधान पड़ने से स्वरसन्धि प्राप्त ही नहीं होती। अतः इस सूत्र के उपयोगी 'अमू' और 'अमी' ये दो ही शब्द हैं।

२. स्त्रीलिङ्ग में 'अदस्' शब्द से परे प्रथमा या द्वितीया का द्विवचन 'औ' आने पर अत्व, पररूप, टाप्, **औङ आपः** (२१६) से शी तथा **आद् गुणः** (२७) से गुण हो कर 'अदे' हुआ। पुनः **अदसोऽसेर्दादु दो मः** (३५६) से मत्व और ऊत्व करने

नोट—'अदस्' शब्द से 'औ' विभक्ति लाने पर मकार को अकारादेश, पररूप तथा वृद्धि एकादेश हो कर—'अदौ' हुआ। अब **अदसोऽसेर्दादु दो मः** (८.२.८०) से दकार को मकार तथा औकार को ऊकार करने से 'अमू' सिद्ध होता है। यद्यपि 'अमू' में ऊदन्त द्विवचन होने के कारण पूर्व-सूत्र से प्रगृह्यसञ्ज्ञा सिद्ध हो सकती थी; तथापि **अदसोऽसेर्दादु दो मः** (८.२.८०) से किये मत्व और ऊत्व के असिद्ध होने से उस की दृष्टि में 'अदौ' रहता था; अतः यह सूत्र बनाया गया है। इस की दृष्टि में तो आरम्भ-सामर्थ्य से ही असिद्ध नहीं होता; यह पहले कह चुके हैं।

मात् किम्? अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि सूत्र में 'मात्' अर्थात् 'म् से परे' ऐसा क्यों कहा गया है? क्योंकि मकार के अतिरिक्त अन्य किसी वर्ण से परे ईत् व ऊत् अदस् के तीनों लिङ्गों के रूपों में कहीं नहीं पाए जाते; अतः 'मात्' ग्रहण न करने से भी 'अमू, अमी' शब्दों की ही प्रगृह्यसञ्ज्ञा होगी। इस का उत्तर है—**अमुकेऽत्र**। अर्थात् 'मात्' का ग्रहण न करने से 'अमुकेऽत्र' प्रयोग में दोष आयेगा। तथाहि—'अदस्' शब्द से परे **अव्यय-सर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः** (१२:३३) सूत्र द्वारा 'अकच्' प्रत्यय हो कर 'अदकस्' बनने पर **अदसोऽसेर्दादु दो मः** (३५६) से मुत्व हो—'अमुकस्' शब्द निष्पन्न होता है। अब इस से प्रथमा का बहुवचन 'जस्' प्रत्यय लाने पर त्यदाद्यत्व, पररूप, **जसः शी** (१५२) से शी आदेश तथा **आद् गुणः** (२७) से गुण एकादेश हो कर 'अमुके' प्रयोग सिद्ध होता है। अब इस के आगे 'अत्र' पद लाने

पर 'अमू' प्रयोग सिद्ध होता है। यहां पूर्व-सूत्र (५१) की दृष्टि में 'अदे' होने से एदन्त द्विवचन है, अतः इस की उस सूत्र से **प्रगृह्य**-सञ्ज्ञा हो सकती है। इस के लिये इस सूत्र (५२) के बनाने की कोई आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार नपुंसक-लिङ्ग में 'औ' आने पर त्यदाद्यत्व, पररूप, **नपुंसकाच्च** (२३५) से शी आदेश तथा **आद् गुणः** (२७) से गुण हो कर 'अदे' हुआ। पुनः **अदसोऽसेर्दादु दो मः** (३५६) से मत्व और ऊत्व करने पर 'अमू' प्रयोग सिद्ध होता है। यहां पर भी पूर्व-सूत्र की दृष्टि में 'अदे' होने से एदन्त द्विवचन है; अतः प्रगृह्य-सञ्ज्ञा सिद्ध है। इस के लिये भी इस सूत्र के रचने की कोई आवश्यकता नहीं। इस से सिद्ध होता है कि—केवल पुल्ँलिङ्ग के 'अमू, अमी' शब्दों के लिये ही यह सूत्र बनाया गया है। ['बाले अमू आसाते' इत्यादिस्त्रीलिङ्गप्रयोगे 'कुले अमू उत्कृष्टे' इत्यादिक्लीबप्रयोगे च **ईदूदेद्०** (५१) इत्यनेनैव प्रगृह्यता। न च 'रामकृष्णावमू आसाते' इत्यादिपुल्ँलिङ्गप्रयोगवद् अत्राप्यारम्भसामर्थ्याद् **अदसो मात्** (५२) इत्यनेनैव प्रगृह्यता किन्न स्यात्? इति वाच्यम्; यतः पुंसि 'अमू आसाते' इत्यत्र तु पूर्वेण प्रगृह्यता न सम्भवतीति युक्तम् **अदसो मात्** (५२) इतिसूत्रे आरम्भ-सामर्थ्यम्, परन्त्वत्र स्त्रियां क्लीबे तु पूर्वेण सिद्धायां प्रगृह्यसञ्ज्ञायां नास्त्यारम्भ-सामर्थ्यम्; अतः स्त्रियां क्लीबे च **ईदूदेद्०** (५१) इत्यनेनैव प्रगृह्यता, पुंसि **अदसो मात्** (५२) इत्यनेनैवेति शम्]।

से **एङः पदान्तादति** (४३) द्वारा पूर्वरूप करने पर 'अमुकेऽत्र' (वे यहां हैं) बन जाता है। यदि सूत्र में 'मात्' ग्रहण न करते तो यहां ककार से परे भी[1] प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो कर प्रकृतिभाव हो जाता; इस से **एङः पदान्तादति** (४३) सूत्र प्रवृत्त न हो सकता, अतः 'मात्' ग्रहण किया गया है।

शङ्का--यह आप का प्रत्युदाहरण ठीक नहीं; क्योंकि यहां 'ईत्' अथवा 'ऊत्' नहीं। आप को तो अपने प्रत्युदाहरण में मकार से भिन्न किसी अन्य वर्ण से परे 'ईत्' या 'ऊत्' ही दिखाने चाहियें थे। आप के प्रत्युदाहरण में तो ककार से परे 'एत्' दिखाया गया है।

समाधान—**ईदूदेद्०** (५१) इस पूर्व-सूत्र से यहां 'ईत्, ऊत्, एत्' इन तीनों की अनुवृत्ति आ रही थी; परन्तु इस सूत्र में 'मात्' ग्रहण के सामर्थ्य से 'एत्' का अनुवर्त्तन नहीं किया जाता, क्योंकि म् से परे अदस् शब्द में कहीं 'एत्' नही पाया जाता। अब यदि यहां 'मात्' का ग्रहण नहीं करेंगे तो 'एत्' की भी अनुवृत्ति आ जाने से 'अमुकेऽत्र' यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होने से प्रकृतिभाव के कारण सन्धि न हो सकेगी; अतः 'एत्' की अनुवृत्ति रोकने के लिये 'मात्' पद का ग्रहण करना अत्यावश्यक है। **असति माद्ग्रहणे एकारोऽप्यनुवर्त्तेत** [सि० कौ०]।

अभ्यास (१२)

(१) व्याकरणशास्त्र में प्रकृतिभाव का क्या अभिप्राय है? स्पष्ट करें।
(२) **इन्द्रे च** सूत्र की वृत्ति में किस बात की कमी रह गई है? स्पष्ट करें।
(३) **सर्वत्र विभाषा गोः** में 'सर्वत्र' पद के ग्रहण का क्या प्रयोजन है?
(४) **दूराद् धूते च** सूत्र के अर्थ में 'विकल्प' कहां से आ जाता है?
(५) 'देवदत्त एहि' इस वाक्य की टि को प्लुत क्यों नहीं होता?
(६) 'आगच्छ कृष्णात्र गौश्चरति' क्या यह शुद्ध है?
(७) **इन्द्रे च** सूत्र बनाने की क्या आवश्यकता थी? क्या पूर्व-सूत्र से 'गवेन्द्रः' सिद्ध नहीं हो सकता था?
(८) **अनेकाल् शित् सर्वस्य** सूत्र में 'शित्' ग्रहण पर प्रकाश डालें।
(९) स्त्रीलिङ्ग वा नपुंसकलिङ्ग के 'अमू' में **अदसो मात्** क्यों नहीं लगता?
(१०) निम्नस्थ रूपों में सन्धि करें अथवा सन्धि न करने का कारण बताएं।
१. कवी अत्र। २. योगी अत्र। ३. वायू अत्र। ४. रामे अत्र। ५. माले अत्र। ६. कुले इमे उत्कृष्टे एधेते अधुना। ७. धनुषी एते अस्य। ८. घने इमे। ९. वर्धेते अस्मिन्। १०. ऋतू अतीतौ। ११. पाणी उत्क्षिपति। १२. हस्ती उत्क्षिपति। १३. बालिके अधीयाते। १४. नेत्रे आमृशति। १५. वटू उत्कूर्दते अत्र। १६. अमी अश्नन्ति।

---

१. क्योंकि **तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते** (प०) इस परिभाषा से 'अदकस्' भी 'अदस्' शब्द माना जाता है।

१७. बालावमू अश्नीतः । १८. कुमार्यावमू अश्नीतः । १९. ते अत्र । २०. कन्ये आसाते । २१. अमू इन्द्र-प्रस्थे दृष्टौ । २२. कवी आगच्छतः ।

(११) 'मात् किम् ? अमुकेऽत्र' इस अंश की व्याख्या करते हुए प्रत्युदाहरण में दोष की उद्भावना कर के उस का समाधान करें ।

(१२) 'हरी एतौ' में कौन ईदन्त द्विवचन है; सप्रमाण स्पष्ट करें ।

(१३) 'गवाक्षः' प्रयोग के अन्य विकल्प 'गोअक्षः, गोऽक्षः' क्यों नहीं बनते ?

(१४) **अलोऽन्त्यस्य, अनेकाल् शित् सर्वस्य, ङिच्च**—इन तीन परिभाषाओं में कौन उत्सर्ग और कौन अपवाद है ? प्रत्येक का उदाहरण-प्रदर्शन-पूर्वक स्पष्टीकरण करें ।

———::०::———

अब निपातों की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के लिये निपात-विधायक सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(५३) चादयोऽसत्त्वे ।१।४।५७॥

अद्रव्यार्थाश्चादयो निपाताः स्युः ॥

अर्थः—यदि चादियों का द्रव्य अर्थ न हो तो उन की निपात-सञ्ज्ञा होती है ।

व्याख्या—चादयः ।१।३। असत्त्वे ।७।१। निपाताः ।१।३। (**प्राग्रीश्वरान्निपाताः** यह अधिकृत है) । समासः—चः=च-शब्द आदिर्येषान्ते चादयः, तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहि-समासः । न सत्त्वम्=असत्त्वम्, तस्मिन्=असत्त्वे, नञ्-तत्पुरुषः । यहां प्रसज्य-प्रतिषेध है; यदि पर्युदास-प्रतिषेध मानें तो अनर्थक चादियों की निपात-सञ्ज्ञा न हो सकेगी । अर्थः—(असत्त्वे) द्रव्य अर्थ न होने पर (चादयः) 'च' आदि शब्द (निपाताः) निपात-सञ्ज्ञक होते हैं ।

जिस में सङ्ख्या पाई जाए या जिस के लिये सर्वनाम का प्रयोग हो सके, उसे 'द्रव्य' कहते हैं । चादि-गण आगे 'अव्यय-प्रकरण' में आ जायेगा । उदाहरण यथा—'लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः' यहां 'पशु' शब्द का अर्थ 'सम्यक्=ठीक प्रकार से' ऐसा है । अतः यह अद्रव्यवाची होने से निपात सञ्ज्ञक होता है । यदि 'पशु' का अर्थ 'जानवर' होगा, तो वह द्रव्यवाची होने से निपात-सञ्ज्ञक न होगा । यथा—पशुं नयन्ति । निपात सञ्ज्ञा होने से (३६७) सूत्र द्वारा 'अव्यय' सञ्ज्ञा हो जाती है, इस से विभक्ति का लुक् हो जाता है; यह सब आगे 'अव्यय-प्रकरण' में सविस्तर लिखेंगे ।

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(५४) प्रादयः । १ । ४ । ५८ ॥

एतेऽपि तथा ॥

अर्थः—अद्रव्यार्थक प्रादि भी निपात-सञ्ज्ञक होते हैं ।

व्याख्या—असत्त्वे ।७।१। (**चादयोऽसत्त्वे** से)। प्रादयः ।१।३। निपाताः ।१।३। (**प्राग्रीश्वरान्निपाताः** यह अधिकृत है) । अर्थः—(असत्त्वे) द्रव्य अर्थ न होने पर (प्रादयः) 'प्र' आदि शब्द (निपाताः) निपात-सञ्ज्ञक होते हैं । प्रादि-गण पीछे (३५) सूत्र पर मूल में ही आ चुका है ।

प्राग्रीश्वरान्निपाताः (१.४.५६) सूत्र से अष्टाध्यायी में निपातों का अधिकार आरम्भ किया जाता है; अर्थात् इस सूत्र से ले कर **अधिरीश्वरे** (१.४.६६) सूत्र-पर्यन्त निपात-सञ्ज्ञक कहे गये हैं। इसी अधिकार में पाणिनि ने **प्रादय उपसर्गाः क्रिया-योगे** ऐसा एक सूत्र पढ़ा है। इस का अर्थ यह है—'प्र' आदि बाईस शब्द क्रियायोग में निपात-सञ्ज्ञक होते हुए उपसर्ग-सञ्ज्ञक होते हैं। अब इस अर्थ से यह दोष उत्पन्न होता है कि जहां क्रिया-योग नहीं, वहां निपात-सञ्ज्ञा नहीं हो सकती। परन्तु हमें तो क्रियायोग में उपसर्ग-सञ्ज्ञा के साथ साथ तथा क्रियायोगाभाव में भी निपात-सञ्ज्ञा करनी इष्ट है। भाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने इस एक सूत्र से ये दोनों कार्य न होते देख कर इस के दो विभाग कर दिये हैं। (१) **प्रादयः**। (२) **उपसर्गाः क्रिया-योगे**। तो अब प्रथम सूत्र से क्रियायोगाभाव में तथा दूसरे सूत्र से क्रियायोग में निपात-सञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है। क्रियायोगाभाव में निपात-सञ्ज्ञा करने का प्रयोजन—'यज्ञदत्तोऽपि मूर्खः' इत्यादि में 'अपि' से परे सुँब्लुक् आदि कार्य करना है। क्रियायोग में निपात-सञ्ज्ञा करने का प्रयोजन—'प्राच्छेति' आदि में अव्ययसंज्ञा करके विभक्ति का लुक् करना है।

द्रव्य अर्थ में प्रादियों की निपात-सञ्ज्ञा नहीं होती। यथा प्रादियों में 'वि' शब्द पढ़ा गया है; यदि इस का अर्थ पक्षी होगा तो द्रव्यार्थक होने से इस की निपात-सञ्ज्ञा न होगी। निपात न होने से यह अव्यय न होगा और तब इस से परे सुँप् का लुक् भी न होगा—विः = पक्षी, विं पश्य, विना तुल्यं वायुयानम्।

अब अग्रिम सूत्र द्वारा निपातों की प्रगृह्य-संज्ञा विधान करते हैं—

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(५५) निपात एकाजनाङ् ।१।१।१४॥

एकोऽच् निपात आङ्वर्जः[1] प्रगृह्यः स्यात्। इ इन्द्रः। उ उमेशः। वाक्य-स्मरणयोरङित्। आ एवं नु मन्यसे। आ एवं किल तत्। अन्यत्र ङित्—ईषदुष्णम्=ओष्णम्॥

अर्थः—आङ् को छोड़ कर एक अच् मात्र निपात प्रगृह्यसञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—निपातः ।१।१। एकाज् ।१।१। अनाङ् ।१।१। प्रगृह्यः ।१।१। (**ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्** से)। समासः—एकश्चासावच्=एकाच्, कर्मधारय-समासो न तु बहुव्रीहिः। न आङ्=अनाङ्, नञ्तत्पुरुषः। अर्थः—(अनाङ्) आङ् से भिन्न (एकाज्) एक अच् रूप (निपातः) निपात (प्रगृह्यः) प्रगृह्य-संज्ञक होता है। उदाहरण यथा—

इ इन्द्रः [ओह! यह इन्द्र है]। उ उमेशः [जान पड़ता है कि यह महादेव है]। यहां 'इ' और 'उ' एक अच्रूप तथा अद्रव्यार्थक होने से **चादयोऽसत्त्वे** (५३) द्वारा निपात संज्ञक हैं; अतः इस सूत्र से इन की प्रगृह्य-संज्ञा हो कर **प्लुतप्रगृह्या अचि०** (५०) द्वारा प्रकृतिभाव के कारण **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से प्राप्त सवर्ण-दीर्घ

---

१. वर्ज्यते=त्यज्यत इति वर्जः, कर्मणि घञ्-प्रत्ययः। आङा वर्जः—आङ्वर्जः, तृतीया-तत्पुरुषः। आङ्भिन्न इत्यर्थः।

नहीं होता। यहां 'इ' निपात आश्चर्य करने में तथा 'उ' निपात वितर्क करने में प्रयुक्त हुआ है।

'एकाच्' यहां 'एकश्चासावच्=एकाच्' [एक भी हो और वह अच् भी हो] इस प्रकार कर्मधारय-समास करना ही उचित है। यदि 'एकोऽच् यस्मिन् स एकाच्' [एक अच् जिस में हो वह] इस प्रकार बहुव्रीहि-समास करेंगे तो—'च+अस्ति= चास्ति' में सवर्ण-दीर्घ न हो सकेगा, क्योंकि तब 'च' की भी प्रगृह्य-संज्ञा हो जायेगी क्योंकि वह भी एक अच् वाला है।

चादिगण में 'आ' तथा प्रादिगण में 'आङ्' इस प्रकार दो निपात पढ़े गये हैं। इन में से प्रथम 'आ' की इस सूत्र से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो जाती है पर दूसरे 'आङ्' की इस सूत्र में 'अनाङ्' कहने के कारण प्रगृह्य-सञ्ज्ञा नहीं होती। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि आ और आङ् ये दोनों प्रयोग में तो 'आ' के रूप में ही मिलते हैं क्योंकि **हलन्त्यम्** (१) द्वारा आङ् का ङकार इत् हो कर लुप्त हो जाता है, ऐसी दशा में यह कैसे विदित हो कि यह आ है, और यह आङ् ? इस के उत्तर के लिये भाष्यकार ने यह व्यवस्था की है—

ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिविधौ च यः।
एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ॥

अर्थात्—अल्प (थोड़ा) अर्थ में, क्रिया के योग में, मर्यादा और अभिविधि अर्थ में जो आकार हो उसे ङित्—आङ् समझना चाहिये। पूर्व कही बात को अन्यथा करने के लिये प्रयुक्त वाक्य में तथा स्मरण अर्थ में अङित्—'आ' समझना चाहिये।

(१) **ईषदर्थे** यथा—आ+उष्ण=ओष्णम्। [यहां **प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया** वार्त्तिक से नित्य-समास होता है। नित्य-समासों का स्वपद-विग्रह नहीं हुआ करता; मूल में इसी लिये 'ईषदुष्णम्' ऐसा अस्वपद-विग्रह दिखाया गया है। 'ओष्णम्' का अर्थ है—थोड़ा गरम]। यहां 'आङ्' होने से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा नहीं होती; अतः प्रकृति-भाव न होने के कारण **आद् गुणः** (२७) सूत्र से गुण एकादेश हो जाता है।

(२) **क्रिया-योगे** यथा—आ+इहि=एहि (आओ), आ+इतः=एतः (वे दो आते हैं)। यहां **इण् गतौ** इस अदादिगणीय क्रिया का योग है; अतः 'आङ्' होने से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा नहीं होती। प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न होने से प्रकृतिभाव भी नहीं होता; **आद् गुणः** (२७) से गुण हो जाता है।

(३) **मर्यादायां**[1] यथा—आ+अलवरात्=आलवराद् वृष्टो मेघः (अलवर

---

१. **तेन विनेति मर्यादा, तेन सहेत्यभिविधिः।** मर्यादा और अभिविधि में यह भेद होता है कि मर्यादा में अवधि का ग्रहण नहीं होता और अभिविधि में ग्रहण होता है। यथा—'अलवर तक मेघ बरसा' यहां मेघ बरसने की अवधि 'अलवर' है। मर्यादा में इस अवधि का ग्रहण न होने से यह तात्पर्य होगा कि अलवर देश को

देश तक परन्तु अलवर देश को छोड़ कर मेघ बरसा)। यहां मर्यादा अर्थ होने से 'आ' ङित् अर्थात् 'आङ्' है अतः प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न होने के कारण प्रकृतिभाव नहीं होता, **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ हो जाता है।

(४) **अभिविधौ** यथा—आ+अलवराद्=आलवराद् वृष्टो मेघः (अलवर देश तक अर्थात् अलवर देश में भी मेघ बरसा)। यहां अभिविधि अर्थ होने से 'आ' ङित् अर्थात् 'आङ्' है अतः प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न होने के कारण प्रकृतिभाव नहीं होता; सवणदीर्घ हो जाता है।

अब 'आ' के उदाहरण—

(१) **वाक्ये** यथा—आ एवं नु मन्यसे (अब तू ऐसा मानता है, अर्थात् पहले तू ऐसा नहीं मानता था अब मानने लगा है)। यहां 'आ' के अङित् होने से प्रगृह्य-संज्ञा हो कर प्रकृतिभाव हो जाता है। **वृद्धिरेचि** (३३) सूत्र से वृद्धि एकादेश नहीं होता।

(२) **स्मरणे** यथा—आ एवं किल तत् (हां वह ऐसा ही है)। यहां 'आ' के अङित् होने से प्रगृह्य-संज्ञा हो कर प्रकृतिभाव हो जाता है। **वृद्धिरेचि** (३३) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—**(५६) ओत् ।१।१।१५।।**

ओदन्तो निपातः प्रगृह्यः स्यात्। अहो ईशाः ।।

अर्थः—ओकार अन्त वाला निपात प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—ओत् ।१।१। निपातः ।१।१। (**निपात एकाजनाङ्** से)। प्रगृह्यः ।१।१। (**ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्** से)। 'ओत्' यह 'निपातः' पद का विशेषण है, अतः इस से तदन्त-विधि होती है। अर्थः—(ओत्=ओदन्तः) ओदन्त (निपातः) निपात (प्रगृह्यः) प्रगृह्य-सञ्ज्ञक होता है। यथा—अहो ईशाः (अहो! ये स्वामी हैं)। यहां अद्रव्यवाची होने से **चादयोऽसत्त्वे** (५३) द्वारा 'अहो' निपात-सञ्ज्ञक है; इस की इस सूत्र से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो जाती है। प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होने से प्रकृतिभाव के कारण **एचोऽयवायावः** (२२) द्वारा प्राप्त अवादेश नहीं होता। इसीप्रकार अथो, नो, आहो, उताहो आदि अन्य ओदन्त निपातों में भी समझ लेना चाहिये। ध्यान रहे कि यहां एक अच् रूप निपात न होने से पूर्वसूत्र द्वारा प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न हो सकती थी अतः यह सूत्र बनाया गया है।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—**(५७) सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे ।१।१।१६।।**

सम्बुद्धि-निमित्तक ओकारो वा प्रगृह्योऽवैदिक इतौ परे। विष्णो इति। विष्ण इति। विष्णविति ।।

छोड़ कर उस तक मेघ बरसा। अभिविधि में इस अवधि का ग्रहण होने से यह तात्पर्य होगा कि अलवर देश सहित उस तक मेघ बरसा। अन्य उदाहरण यथा—आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो मेघः, आ कुमारं यशः पाणिनेः, ओदकान्तात् प्रियोऽनुगन्तव्यः। यहां द्वितीय उदाहरण में अभिविधि तथा तृतीय में मर्यादा अर्थ है।

अर्थः—सम्बुद्धि-निमित्तक ओकार—अवैदिक अर्थात् वेद में न पाये जाने वाले 'इति' शब्द के परे होने पर विकल्प कर के प्रगृह्य-सञ्ज्ञक होता है ।

व्याख्या—सम्बुद्धौ ।७।१। [निमित्त-सप्तम्येषा] । ओत् ।१।१। (**ओत्** से) । अनार्षे ।७।१। इतौ ।७।१। प्रगृह्यः ।१।१। (**ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्** से) । शाकल्यस्य ।६।१। समासः—ऋषिर्वेदः, उक्तञ्च मेदिनीकोषे—**ऋषिर्वेदे वसिष्ठादौ दीधितौ च पुमानयम्** । ऋषौ (वेदे) भवः=आर्षः, **तत्र भवः** (१०९२) इत्यण्, न आर्षः=अनार्षस्तस्मिन्=अनार्षे, नञ्तत्पुरुषः । 'अवैदिके' इत्यर्थः । अर्थः—(अनार्षे) वेद में न पाये जाने वाले (इतौ) इति शब्द के परे होने पर (सम्बुद्धौ) सम्बुद्धि को निमित्त मान कर पैदा हुआ (ओत्) ओकार (प्रगृह्यः) प्रगृह्य-सञ्ज्ञक होता है (शाकल्यस्य) शाकल्य के मत में । अन्य आचार्यों के मत में प्रगृह्य-संज्ञा नहीं होती; परन्तु हमें सब आचार्य्य प्रमाण हैं, अतः विकल्प से प्रगृह्य-संज्ञा होगी । उदाहरण यथा—

विष्णो इति ('विष्णो' यह शब्द) । विष्णु शब्द से परे सम्बुद्धि [सम्बोधन के एकवचन को सम्बुद्धि कहते हैं । देखो—**एकवचनं सम्बुद्धिः** (१३२)]करने पर **ह्रस्वस्य गुणः** (१६९) सूत्र से सम्बुद्धि को निमित्त मान कर गुण हो कर—विष्णो+स् । अब **एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः** (१३४) सूत्र से सकार का लोप करने पर 'विष्णो' पद सिद्ध हो जाता है । इस के आगे 'इति' पद लाने से **एचोऽयवायावः** (२२) द्वारा ओकार को अव् आदेश प्राप्त होता था जो अब इस सूत्र से प्रगृह्य-संज्ञा होने से प्रकृतिभाव के कारण नहीं होता । अन्य आचार्यों के मत में प्रगृह्य-संज्ञा न होने से अव् आदेश हो कर 'विष्णव् इति' बना । अब इस दशा में पदान्त वकार का **लोपः शाकल्यस्य** (३०) सूत्र से वैकल्पिक लोप हो जाता है । लोपपक्ष में 'विष्ण इति' (वकारलोप के असिद्ध होने से गुण नहीं होता) और लोपाभावपक्ष में 'विष्णविति' इस प्रकार कुल मिला कर तीन रूप सिद्ध होते हैं ।

यह उदाहरण वेद का नहीं; वेद में तो 'इति' शब्द परे होने पर प्रगृह्य-संज्ञा नहीं होती किन्तु अव् आदेश हो जाता है । यथा—**एता गा ब्रह्मबन्ध इत्यब्रवीत्** [यह काठकसंहिता (१०.६) का वचन है] ।

नोट—वस्तुतः अन्य आचार्यों के मत में 'विष्णविति' ही रूप होता है; 'विष्ण इति' नहीं । क्योंकि जब शाकल्य आचार्य के मत में ओ को अव् ही नहीं होता तो पुनः उन के मत में **लोपः शाकल्यस्य** (३०) से वकार का लोप कैसे सम्भव हो सकता है ? काशिका आदि प्राचीन ग्रन्थों में सर्वत्र इस सूत्र पर दो ही उदाहरण लिखे मिलते हैं; लोप वाला रूप कहीं नहीं देखा जाता ।[1]

---

१. इस सूत्र पर कई मनीषियों का विचार है कि यह सूत्र वैदिकपदपाठविषयक ही है । सर्वप्रथम आचार्य शाकल्य ने ऋग्वेद के अपने पदपाठ में वायो, विष्णो आदि ओदन्त सम्बुद्ध्यन्त पदों के आगे 'इति' शब्द लगा कर उन को निर्दिष्ट किया तथा उन के मध्य स्पष्टप्रतिपत्ति के लिये सन्धि भी नहीं की । तदनन्तर अन्य

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(५८) मय उञो वो वा ।८।३।३३।।**

मयः परस्य उञो वो वा स्यादचि । किम्वुक्तम् । किमु उक्तम् ।।

अर्थः—मय् प्रत्याहार से परे उञ् निपात को विकल्प कर के 'व्' आदेश हो जाता है अच् परे हो तो ।

व्याख्या—मयः ।५।१। उञः ।६।१। वः ।१।१। वकारादकार उच्चारणार्थः । वा इत्यव्ययपदम् । अचि ।७।१। (**ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्** से) । अर्थः—(मयः) मय् प्रत्याहार से परे (उञः) उञ् के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (वः) व् आदेश होता है (अचि) अच् परे हो तो । मय् प्रत्याहार में ञकार को छोड़ कर अन्य सब वर्गस्थ वर्ण आ जाते हैं । उदाहरण यथा—

किम् उ उक्तम् (क्या कहा ?) । यहां उञ् के एक अच् रूप निपात होने से **निपात एकाजनाङ्** (५५) सूत्र प्राप्त होता है । इस का बाध कर इस सूत्र से वैकल्पिक वकार हो जाता है । जहां वकार आदेश होता है वहां—'किम्वुक्तम्' प्रयोग सिद्ध होता है । वकारादेश के अभाव में यथाप्राप्त प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो कर प्रकृतिभाव के कारण सवर्णदीर्घ नहीं होता—किम् उ उक्तम् । इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं ।

नोट—यह सूत्र **मोऽनुस्वारः** (८.३.२३) सूत्र की दृष्टि में पर त्रिपादी होने से असिद्ध है; अतः 'किम्वुक्तम्' यहां हल्=वकार परे होने पर भी **मोऽनुस्वारः** (७७) से मकार को अनुस्वार नहीं होता । तथा हि– **त्रिपादीये वकारे तु नानुस्वारः प्रवर्त्तते ।**

ध्यान रहे कि उञ् का ञकार **हलन्त्यम्** (१) से इत्सञ्ज्ञक हो कर **तस्य लोपः** (३) से लुप्त हो जाता है । इस प्रकार 'उ' मात्र शेष रहता है ।

अभ्यास (१३)

(१) अधोलिखित प्रयोगों में ससूत्र सन्धि या सन्ध्यभाव दर्शाएं—

१. भानविति । २. शम्वस्तु वेदिः । ३. वाय इति । ४. अहो आश्चर्यम् । ५. तद्वस्य परेतः । ६ शम्भो इति । ७. अथो इति । ८. उ उत्तिष्ठ । ९. नो इदानीम् । १०. ओदकान्तात् प्रियो जनोऽनुगन्तव्यः । ११. अहो अद्य महोष्णता । १२. इ इन्द्रं पश्य । १३. किमिदं सत्यम् उताहो असत्यम् । १४. किमु आवपनम् ।

(२) कहां २ 'आ' ङित् और कहां २ अङित् होता है ? सोदाहरण स्पष्ट करें ।

पदपाठकारों ने भी शाकल्य के इस नियम का अनुसरण किया । शाकल्यग्रहण को काशिकाकार ने विभाषार्थ माना है । इस विभाषा को व्यवस्थितविभाषा ही समझना चाहिये । तैत्तिरीयपदपाठ को छोड़ अन्य पदपाठों में प्रगृह्यसंज्ञा नित्य होती है । तैत्तिरीयपदपाठ में सन्धि उपलब्ध होती है । अत एव हरदत्तमिश्र ने यहां पदमञ्जरी में लिखा है—

तत्र बह्वृचाः प्रगृह्यमेवाधीयते, तैत्तिरीयास्त्वप्रगृह्यम् ।

(३) **प्रादय उपसर्गाः क्रियायोगे** सूत्र का योगविभाग क्यों किया जाता है ?
(४) 'किम्वुक्तम्' यहां **मोऽनुस्वारः** (७७) सूत्र क्यों प्रवृत्त नहीं होता ?
(५) **निपात एकाजनाङ्** के 'एकाच्' पद में क्यों बहुव्रीहिसमास नहीं मानते ?
(६) वस्तुतः 'विष्ण इति' रूप नहीं बनता—इस कथन की व्याख्या करें।
(७) उदाहरणप्रदर्शनपूर्वक मर्यादा और अभिविधि का परस्पर भेद बताएं।
(८) पदपाठ की दृष्टि से **सम्बुद्धौ शाकल्यस्येता०** सूत्र की व्याख्या करें।

—-—::०::——

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(५६) इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ।६।१।१२३॥**

पदान्ता इको ह्रस्वा वा स्युरसवर्णेऽचि। ह्रस्वविधिसामर्थ्यान्न स्वर-सन्धिः। चक्रि अत्र। चक्र्यत्र। पदान्ता इति किम् ? गौर्यौ॥

अर्थः—असवर्ण अच् परे होने पर पदान्त इक् विकल्प कर के ह्रस्व हो जाते हैं। **ह्रस्वविधि०**—ह्रस्वविधान करने के सामर्थ्य से स्वर-सन्धि नहीं होती।

व्याख्या—पदान्तस्य ।६।१। (**एङः पदान्तादति** से विभक्तिविपरिणाम करके)। इकः ।६।१। असवर्णे ।७।१। अचि ।७।१। (**इको यणचि** से)। ह्रस्वः ।१।१। शाकल्यस्य ।६।१। च इत्यव्ययपदम्। अर्थः—(असवर्णे) असवर्ण (अचि) अच् परे होने पर (पदान्तस्य) पदान्त (इकः) इक् के स्थान पर (ह्रस्वः) ह्रस्व हो जाता है (शाकल्यस्य) शाकल्य आचार्य के मत में। अन्य आचार्यों के मत में नहीं होता; हमें सब आचार्य प्रमाण हैं अतः ह्रस्व विकल्प से होगा। उदाहरण यथा—

चक्री+अत्र (विष्णु यहां है) यहां पदान्त इक् ईकार है, इस से परे 'अ' यह असवर्ण अच् वर्त्तमान है अतः इक् को विकल्प करके ह्रस्व हो गया। जहां ह्रस्व हुआ वहां—'चक्रि अत्र'। जहां ह्रस्व न हुआ वहां **इको यणचि** (१५) से यण् होकर 'चक्र्यत्र' इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं।

इस के अन्य उदाहरण यथा—१. मधु[1] अस्ति, मद्ध्वस्ति। २. दधि अस्ति, दद्ध्यस्ति। ३. वस्तु आनय, वस्त्वानय। ४. वारि अत्र, वार्यत्र। ५. योगि आगच्छति, योग्यागच्छति। ६. धनि अवोचत्, धन्यवोचत्। ७. नदि एधते, नद्येधते। ८. जाह्नवि अवतरति, जाह्नव्यवतरति। ९. बलि ऋक्षः, बल्यृक्षः। १०. भवति एव, भवत्येव। ११. धातृ अत्र, धात्रत्र।

अब जहां ह्रस्व करते हैं वहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि यहां **इको यणचि** (१५) सूत्र से यण् क्यों न किया जाए ? इसका उत्तर यह है कि यदि वहां भी यण् हो जाए तो पुनः इस सूत्र से ह्रस्व करना व्यर्थ हो जायेगा; क्योंकि तब दोनों पक्षों में 'चक्र्यत्र' रूप समान हो जायेगा जो इस सूत्र के विना भी **इको यणचि** (१५) सूत्र से सिद्ध हो सकता है। अतः इस सूत्र द्वारा ह्रस्व करने के सामर्थ्य से यहां सन्धि न

---

१. यहां यह ध्यातव्य है कि ह्रस्वों को भी **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः** न्याय से ह्रस्व हो जाया करता है। इस का फल सन्ध्यभाव स्पष्ट ही है। यह विषय इस सूत्र के भाष्य में अत्यन्त स्पष्ट है।

होगी । ध्यान रहे कि मूल में 'स्वरसन्धि' कथन इस लिये किया गया है कि यहां स्वर-सन्धि के अतिरिक्त अन्य कोई सन्धि प्राप्त ही नहीं हो सकती ।

इस सूत्र में 'असवर्णे' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि 'योगी+इच्छति=योगीच्छति' 'कुमारी+ईहते=कुमारीहते' इत्यादियों में सवर्ण अच् परे होने पर ह्रस्व न हो ।

'पदान्त' ग्रहण इस लिये किया गया है कि—'गौरी+औ' यहां अपदान्त इक् को ह्रस्व न हो जाए । **इको यणचि** (१५) से यण् हो कर 'गौर्यौ' बन जाए ।

ध्यान रहे कि **प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्** (५०) में 'नित्यम्' ग्रहण के कारण उस के विषय में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती । यथा—हरी एतौ, शिशू आक्रन्दतः । इन में प्रकृत ह्रस्वसमुच्चित प्रकृतिभाव न हो कर उस के द्वारा नित्य प्रकृतिभाव होता है ।

अब प्रसङ्गवश 'गौर्यौ' में द्वित्व करने वाला सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६०) अचो रहाभ्यां द्वे ।८।४।४५॥

अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः । गौर्य्यौ ॥

अर्थः—अच् से परे जो रेफ या हकार उस से परे यर् को विकल्प से द्वित्व हो ।

व्याख्या—अचः ।५।१। रहाभ्याम् ।५।२। द्वे ।१।२। यरः ।६।१। वा इत्यव्यय-पदम् । (**यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** से) । अर्थः—(अचः) अच् से परे (रहाभ्याम्) जो रेफ या हकार उस से परे (यरः) यर् के (द्वे) दो शब्दस्वरूप (वा) विकल्प कर के हो जाते हैं । उदाहरण यथा—'गौर् यौ' यहां अच्='औ' से परे रेफ है अतः उस से परे यर् यकार को विकल्प करके द्वित्व होकर द्वित्वपक्ष में 'गौर्य्यौ' तथा द्वित्वाभाव-पक्ष में 'गौर्यौ' इस प्रकार दो रूप बन जाते हैं ।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

१. आर्य्यः, आर्यः । २. अर्क्कः, अर्कः । ३. कार्य्यम्, कार्यम् । ४. हर्य्यनुभवः, हर्यनुभवः । ५. उर्व्वी, उर्वी । ६. आह्ल्लादः, आह्लादः । ७. अर्ज्जुनः, अर्जुनः । ८. आर्त्तः, आर्तः । ९. आह्व्वयः, आह्वयः । १०. आर्द्द्रकम् आर्द्रकम् । ११. ब्रह्म्मा, ब्रह्मा । १२. अर्त्थः, अर्थः । १३. न ह्य्यस्ति, न ह्यस्ति । १४. गर्ब्भः, गर्भः । १५. ऊर्द्ध्वम्, ऊर्ध्वम् । १६. दुर्ग्गः, दुर्गः । १७. अर्ग्घ्यः, अर्घ्यः । १८. मूर्च्छ्ना, मूर्छना । १९. अपह्न्नुते, अपह्नुते । २०. मूर्क्खः, मूर्खः । २१. शर्म्मा, शर्मा । २२. विसर्ग्गः, विसर्गः । २३. प्रार्ण्णम्, प्रार्णम् । २४. कर्म्म, कर्म । २५. निर्ज्झरः, निर्झरः ।[1]

---

१. गर्ब्भः, निर्ज्झरः, अर्ग्घ्यः, ऊर्द्ध्वम् आदि में द्वित्व के बाद **झलां जश्झशि** (१९) से जश्त्व हो जाता है तथा 'मूर्क्खः, अर्त्थः, मूर्च्छ्ना आदि में **खरि च** (७४) से चर्त्व । आर्षम्, अर्शः आदि में प्रकृतसूत्र के प्राप्त द्वित्व का **शरोऽचि** (२६९) से निषेध हो जाता है । 'मूर्च्छना' में तुँक् आगम समझने की भूल से बचें ।

अब प्रसङ्गतः प्राप्त हुए द्वित्व को कह कर पुनः **इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च** (५९) सूत्र पर निषेधक वार्त्तिक लिखते हैं—

[लघु०] वा०—**(६) न समासे ॥**

वाप्यश्वः ॥

अर्थः—समास में असवर्ण अच् परे होने पर पदान्त इक् को ह्रस्व नहीं होता ।

व्याख्या—वापी+अश्व [बावड़ी में घोड़ा । वाप्यामश्वः=वाप्यश्वः, **सह सुंपा** (९०६) इति समासः ।] यहां समास में विभक्तियों का लुक् होने पर **प्रत्यय-लोपे प्रत्यय-लक्षणम्** (१९०) सूत्र द्वारा ईकार पदान्त हो जाता है; इसे असवर्ण अच् (अ) परे होने पर पूर्वसूत्र (५९) से ह्रस्व प्राप्त था जो अब इस वार्त्तिक के निषेध के कारण नहीं होता। **इको यणचि** (१५) से यण् हो कर विभक्ति लाने से—'वाप्यश्वः' सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार—'सुध्युपास्यः, मध्वरिः, गौर्यात्मजः, नद्युदयः, चार्वङ्गी, मात्राज्ञा, वध्वागमनम्, लाकृतिः' प्रभृति समासों में भी समझ लेना चाहिये ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(६१) ऋत्यकः ।६।१।१२४॥**

ऋति परे पदान्ता अकः प्राग्वद् वा । ब्रह्म ऋषिः । ब्रह्मर्षिः । पदान्ताः किम् ? आर्च्छत् ॥

अर्थः—ऋत् (ह्रस्व ऋकार) परे होने पर पदान्त अक् विकल्प से ह्रस्व हों ।

व्याख्या—ऋति ।७।१। पदान्तस्य ।६।१। (**एङः पदान्तादति** से विभक्ति-विपरिणाम द्वारा)। अकः ।६।१। ह्रस्वः ।१।१। शाकल्यस्य ।६।१। (**इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च** से) । अर्थः—(ऋति) ह्रस्व ऋवर्ण परे होने पर (पदान्तस्य) पदान्त (अकः) अक् के स्थान पर (ह्रस्वः) ह्रस्व हो जाता है (शाकल्यस्य) शाकल्य आचार्य के मत में । अन्य आचार्यों के मत में न होने से विकल्प हो जायेगा । उदाहरण यथा—

'ब्रह्मा+ऋषिः' यहां 'ऋषि' शब्द का आदि ऋत् परे है; अतः मकारोत्तर पदान्त आकार को विकल्प करके ह्रस्व होकर—'ब्रह्म ऋषिः' तथा ह्रस्वाभावपक्ष में **आद् गुणः** (२७) से गुण, रपर होकर—'ब्रह्मर्षिः' बना । [अथवा 'ब्रह्म+ऋषि' ऐसे छेद में ह्रस्व को ह्रस्व होगा । ब्रह्मणः=वेदस्य ऋषिः—ब्रह्मर्षिरित्यादिविग्रहः] ।

पूर्व (५९) सूत्र सवर्ण परे होने पर प्रवृत्त नहीं होता था तथा अकार को ह्रस्व भी नहीं करता था; इन दोनों आवश्यकताओं के लिये यह सूत्र बनाया गया है । जैसा कि महाभाष्य में कहा है—**सवर्णार्थम् अनिगन्तार्थञ्च** । सवर्ण परे होने पर यथा—होतृ ऋश्यः, होतॄश्यः । यहां पूर्व-सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता था । अकार का उदाहरण—ब्रह्मऋषिः, ब्रह्मर्षिः । ध्यान रहे कि जहां २ ह्रस्व करेंगे वहां २ पूर्ववत् ह्रस्वविधान के सामर्थ्य से स्वर-सन्धि नहीं होगी ।

इस सूत्र में भी पूर्ववत् 'पदान्त' का ग्रहण होता है; अतः अपदान्त अक् को ह्रस्व नहीं होता । उदाहरण यथा—'आ+ऋच्छत्' [यह तौदादिक 'ऋच्छ' अथवा भौवादिक 'ऋ' धातु के लँङ् लकार के प्रथम-पुरुष का एकवचन है । 'आ' यह यहां

'आट्' आगम समझना चाहिये] । यहां 'आ' (आट्) पदान्त नहीं अतः **ऋत्** परे होने पर भी इसे ह्रस्व नहीं होता । **आटश्च** (१९७) से पूर्व+पर के स्थान पर 'आर्' वृद्धि होकर - 'आर्च्छत्' बन जाता है ।

इकोऽसवर्णे० (५९) सूत्र समास में प्रवृत्त नहीं होता है; यह सूत्र समास में भी प्रवृत्त हो जाता है । यथा—सप्तऋषीणाम्, सप्तर्षीणाम् । परन्तु **उपसर्गादृति धातौ** (३७) के विषय में इस की प्रवृत्ति नहीं होती—प्रार्च्छति । इस की स्पष्टता **सिद्धान्त-कौमुदी** में देखें ।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

१. कन्य ऋज्वी, कन्यर्ज्वी । २. कुमारि ऋतुमती, कुमार्यृतुमती । ३. प्रज्ञ ऋतम्भरा, प्रज्ञर्तम्भरा । ४. पुरुषऋषभः, पुरुषर्षभः । ५. महऋषिः, मर्हषिः । ६. शङ्खध्मऋद्धिः, शङ्खध्मर्द्धिः । ७. कर्तृ ऋणि, कर्तॄणि । ८. पञ्च ऋतवः, पञ्चर्तवः । ९. कण्वऋषिः, कण्वर्षिः । १०. ऋषिऋणम्, ऋष्यृणम् ।

[लघु०] इत्यच्सन्धि-प्रकरणम् ॥

अर्थः—यहां अचों की सन्धि का प्रकरण समाप्त होता है ।

व्याख्या—**अच्सन्धि** शब्द पर विशेष टिप्पण पृष्ठ (९९) पर देखें ।

अभ्यास (१४)

(१) **इकोऽसवर्णे०** तथा **ऋत्यकः** में 'पदान्त' की अनुवृत्ति क्यों लाते हैं ?
(२) क्या समास में भी **ऋत्यकः** की प्रवृत्ति हो सकती है ?
(३) 'प्रार्च्छति' में ह्रस्वसमुच्चित प्रकृतिभाव क्यों नहीं होता ?
(४) 'सुध्युपास्यः' आदि में **इकोऽसवर्णे०** क्यों नहीं लगता ?
(५) 'साधू इमौ' में **इकोऽसवर्णे०** की प्रवृत्ति होगी या नहीं ? स्पष्ट करें ।
(६) **सवर्णार्थमनिगन्तार्थञ्च**—इस वचन की व्याख्या करें ।
(७) ह्रस्वविधि में ऐसा कौन सा सामर्थ्य है जो स्वरसन्धि को रोकता है ?
(८) निम्नस्थ प्रयोगों में सोपपत्तिक सन्धि दर्शाएं—
१. नदि एति । २. अर्भ्भकः । ३. देवऋषयः । ४. पितृऋणम् । ५. अर्ज्जयन्ति । ६. कर्तृ इदम् । ७. नद्यात्मा । ८. नमः परम-ऋषिभ्यः । ९. माक्षि आत्मनः । १०. वर्द्धते ।

——::०::——

इति भैमीव्याख्ययोपेतायां लघु-सिद्धान्तकौमुद्यामच्सन्धि-प्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ हल्-सन्धि-प्रकरणम्

अब हलों अर्थात् व्यञ्जनों का व्यञ्जनों के साथ मेल दिखाया जायेगा ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(६२) स्तोः श्चुना श्चुः ।८।४।३९।।**

सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ स्तः । रामश्शेते । रामश्चिनोति । सच्चित् । शार्ङ्गिञ्जय ।।

अर्थः—सकार तवर्ग के स्थान पर, शकार चवर्ग के साथ योग होने पर शकार चवर्ग हो जाता है ।

व्याख्या—स्तोः ।६।१। श्चुना ।३।१। श्चुः ।१।१। समासः—स् च तुश्च = स्तुः, तस्य = स्तोः, समाहार-द्वन्द्वः । यद्यपि समाहार-द्वन्द्व में नपुंसकलिङ्ग होता है, तथापि यहां सौत्र पुंस्त्व जानना चाहिये । श् च चुश्च = श्चुः, तेन = श्चुना, समाहार-द्वन्द्वः । अत्र सहयोगे तृतीया बोध्या । सकार और तवर्ग को 'स्तु' तथा शकार और चवर्ग को 'श्चु' कहा गया है । अर्थः—(स्तोः) सकार तवर्ग के स्थान पर (श्चुना) शकार चवर्ग के साथ (श्चुः) शकार चवर्ग हो जाता है । तात्पर्य यह है कि शकार-चवर्ग के साथ यदि सकार-तवर्ग का आगे या पीछे कहीं योग (मेल) हो तो सकार-तवर्ग के स्थान पर भी शकार-चवर्ग हो जाता है ।

यहां स्थानी—स्, त्, थ्, द्, ध्, न् ये छः वर्ण और इन के स्थान पर होने वाले आदेश—श्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ् ये भी छः वर्ण हैं । अतः दोनों ओर समान संख्या होने से ये आदेश **यथासंख्यमनुदेशः०** (२३) परिभाषा के अनुसार क्रमशः होंगे; अर्थात् स् को श्, त् को च्, थ् को छ्, द् को ज्, ध् को झ् तथा न् को ञ् ही आदेश होगा ।

ध्यान रहे कि यहां स्थानी और आदेश के विषय में तो यथासंख्य होता है परन्तु योग के विषय में यथासंख्य नहीं होता; अर्थात् यहां यह नहीं समझना चाहिये कि सकार को शकार—शकार के योग में, तकार को चकार—चकार के योग में, थकार को छकार—छकार के योग में, दकार को जकार—जकार के योग में, धकार को झकार—झकार के योग में तथा नकार को ञकार—ञकार के योग में ही होता है । किन्तु योग चाहे किसी 'श्चु' का हो—सकार को शकार, तकार को चकार, थकार को छकार, दकार को जकार, धकार को झकार तथा नकार को ञकार ही होगा । यदि योग के विषय में भी यथासंख्य होता तो **शात्** (६३) सूत्र से निषेध करने की कुछ आवश्यकता न होती; क्योंकि शकार से परे तो तब तवर्ग को चवर्ग प्राप्त ही नहीं हो सकता था । अतः निषेध करने से ज्ञात होता है कि योग के विषय में आचार्य यथासंख्य नहीं चाहते । उदाहरण यथा—

(१) रामश्शेते (राम सोता है) । 'रामस्+शेते' [राम शब्द से सुँ प्रत्यय करने पर **ससजुषो रुः** (१०५) से रुँ तथा **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (९३) से विसर्ग

हो पुनः **वा शरि** (१०४) से विकल्प कर के विसर्ग होने और तदभावपक्ष में सकार करने पर—'रामस् शेते, रामः शेते' ये दो रूप बनते हैं। यहां विसर्गाभावपक्ष में सत्व वाले रूप का ग्रहण किया गया है।] यहां सकार का शकार के साथ योग होने से उस के स्थान पर क्रमानुसार शकार आदेश हो 'रामश्शेते' प्रयोग सिद्ध होता है।

अब ग्रन्थकार यह जतलाने के लिये कि योग के विषय में यथासंख्य नहीं होता; सकार का एक अन्य उदाहरण देते हैं—

(२) रामश्चिनोति (राम चुनता है)। 'रामस्+चिनोति' [राम शब्द से सुँ प्रत्यय करने पर **ससजुषो रुँः** (१०५) से उसे रुँ तथा **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (९३) से विसर्ग हो पुनः **विसर्जनीयस्य सः** (१०३) से सकार हो जाता है।] यहां सकार का चकार के साथ योग होने से उस के स्थान पर क्रमानुसार शकार हो 'रामश्चिनोति' प्रयोग सिद्ध होता है।

(३) सच्चित् (सत् और ज्ञान)। 'सत्+चित्' यहां तकार का चकार के साथ योग है अतः उस के स्थान पर क्रमानुसार चकार हो 'सच्चित्' प्रयोग सिद्ध होता है। [वस्तुतः यहां **स्तोः श्चुना श्चुः** (८.४.३९) के असिद्ध होने से प्रथम **झलां जशोऽन्ते** (८.२.३९) से तकार को दकार हो पुनः **खरि च** (८.४.५४) के असिद्ध होने से **स्तोः श्चुना श्चुः** (८.४.३९) से दकार को जकार हो कर अन्त में **खरि च** (७४) से जकार को चकार हो जाता है]।

(४) शार्ङ्गिञ्जय (हे विष्णो! तुम्हारी जय हो)। 'शार्ङ्गिन्+जय' यहां नकार का जकार के साथ योग है अतः प्रकृतसूत्र से नकार के स्थान पर क्रमानुसार ञकार हो कर 'शार्ङ्गिञ्जय' प्रयोग सिद्ध होता है।

योग वर्ण के आगे या पीछे दोनों अवस्थाओं में हो सकता है; किसी को यह न समझ लेना चाहिये कि यदि श्चु आगे आएंगे तो स्तु को श्चु होगा। चाहे श्चु—स्तु से आगे आए या पीछे, स्तु को श्चु हो जायेगा। यथा—'यज्+न' यहां नकार का पूर्व जकार के साथ योग होने पर उस के स्थान पर ञकार हो 'यज्ञः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार राज्ञः, याच्ञा आदि में समझना चाहिये।

शङ्का—यदि योग में आगे पीछे का नियम नहीं; तो 'अच्सन्धि' में स् को श् हो जावे, **शात्** (९३) सूत्र निषेध नहीं कर सकता। 'अच्त्वम्' में तकार को चकार हो जावे।

समाधान—**अल्पाच्तरम्** (९८९) इस सूत्र के निर्देश से, **सिद्धमनच्त्वात्** इस वार्त्तिक के प्रयोग से तथा **अकच्स्वरौ तु कर्त्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयौ** इस भाष्य के प्रामाण्य से यह प्रमाणित होता है कि क्वचित् प्रत्याहार आदि के सान्निध्य में असन्देहार्थ श्चुत्व आदि संहिताकार्य नहीं होते। अत एव 'अच्त्वम्' में कुत्व, 'जश्त्वम्' में व्रश्चादिषत्व तथा 'खर्परे, शर्परे' में रेफ को विसर्ग आदि कार्य नहीं देखा जाता।

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—**(९३) शात्** ।८।४।४३॥

शात्परस्य तवर्गस्य चुत्वं न स्यात्। विश्नः। प्रश्नः॥

अर्थः—शकार से परे तवर्ग के स्थान पर चवर्ग नहीं होता ।

व्याख्या—शात् ।५।१। तोः ।६।१।(**तोः षि** से)। न इत्यव्ययपदम्(**न पदान्ता-ट्टोरनाम्** से) । क्या नहीं होता ? इस जिज्ञासा के उत्पन्न होने पर सुतरां यही आयेगा कि जो प्राप्त होता है वह नहीं होता । शकार से परे तवर्ग के स्थान पर **स्तोः श्चुना श्चुः** (६२) से चवर्ग ही प्राप्त हो सकता है, अन्य कोई प्राप्त नहीं हो सकता[1] अतः यहां उसी का निषेध समझना चाहिये । अर्थः—(शात्) शकार से परे (तोः) तवर्ग के स्थान पर चवर्ग (न) नहीं होता । उदाहरण यथा—

(१) 'विश्+नः' [यहां **विच्छँ गतौ** (तुदा०) धातु से **यजयाचयतविच्छ प्रच्छरक्षो नङ्** (८६०) द्वारा नङ् प्रत्यय तथा **च्छ्वोः शूडनुनासिके च** (८४३) द्वारा छकार को शकार हो गया है।] यहां **स्तोः श्चुना श्चुः** (६२) द्वारा नकार को ञकार प्राप्त था जो अब इस सूत्र के निषेध के कारण नहीं होता—विश्नः (गति वा प्रवेश)।

(२) 'प्रश्+नः' [यहां **प्रच्छँ ज्ञीप्सायाम्** (तुदा०) धातु से पूर्ववत् नङ् प्रत्यय तथा छकार को शकार आदेश हुआ है।] यहां **स्तोः श्चुना श्चुः** द्वारा नकार को ञकार प्राप्त था जो अब इस सूत्र के निषेध के कारण नहीं होता—प्रश्नः[2] । इसी तरह 'क्लिश्नाति' ।

स्मरण रहे कि यह सूत्र (८.४.४३) **स्तोः श्चुना श्चुः** (८.४.३९) से परे होने के कारण **पूर्वत्रासिद्धम्** (३१) द्वारा उस की दृष्टि में असिद्ध होने पर भी वचन-सामर्थ्य से असिद्ध नहीं होता, उस का अपवाद हो जाता है । **अपवादो वचनप्रामाण्यात्** इति भाष्यम् ।

इस सूत्र से विधान किया निषेध नकार के सिवाय तवर्गस्थ अन्य वर्णों से प्रायः सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि 'श्' से परे 'त्, थ्, द्, ध्' होने पर **व्रश्चभ्रस्ज०** (३०७) द्वारा षत्व हो जाया करता है ।

अभ्यास (१५)

(१) निम्नस्थ प्रयोगों में सूत्रनिर्देशपूर्वक सन्धिकार्य दर्शाएं—

१. ग्रामात्+चलितः । २. हरिस्+छत्रधरः । ३. ईश्वरात्+जगत्+जायते । ४. सोमसुत्+झकारः । ५. तद्+चैतन्यम् । ६. याच्+ना । ७. शश्+नाथ । ८. अश्+नित्यम् । ९. जश्+त्वम् । १०. श्+तिप् । ११. उद्+ज्वल ।

(२) निम्नलिखित रूपों में सूत्रसमन्वयपूर्वक सन्धिच्छेद करें—

---

१. यहां **अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा** इस परिभाषा को भी ध्यान में रखना चाहिये ।

२. यहां **ग्रहिज्या०** (६३४) सूत्र द्वारा सम्प्रसारण नहीं होता, क्योंकि **प्रश्ने चासन्न-काले** (३.२.११७) सूत्र में महामुनि ने स्वयं सम्प्रसारण नहीं किया ।

१. कृष्णश्चपलः । २. यज्ञः । ३. अग्निचिच्छिनत्ति । ४. नारदश्शशाप ।
५. भृज्जौ । ६. सच्छात्रः । ७. अश्नाति । ८. श्रीमञ्झटिति ।
९. उच्छेदः । १०. राज्ञः । ११. समन्ताज्जिघ्रति ।

(३) श्चुत्व-विधि में कहां यथासङ्ख्य होता है और कहां नहीं ? स्पष्ट करें।
(४) **स्तोः श्चुना श्चुः** (८.४.३९) सूत्र की दृष्टि में **शात्** (८.४.४३) सूत्र असिद्ध है । तो भला असिद्ध कैसे सिद्ध का निषेध कर सकता है ?

——::०::——

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(६४) ष्टुना ष्टुः ।८।४।४०॥**

स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः स्यात् । रामष्षष्ठः । रामष्टीकते । पेष्टा । तट्टीका । चक्रिण्ढौकसे ॥

अर्थः—सकार तवर्ग के स्थान पर, षकार टवर्ग के साथ योग होने पर षकार टवर्ग हो जाता है ।

व्याख्या—स्तोः ।६।१। (**स्तोः श्चुना श्चुः** से) । ष्टुना ।३।१। ष्टुः ।१।१। समासः—ष् च टुश्च = ष्टुः, तेन = ष्टुना, समाहारद्वन्द्वः । सौत्रम् पुंस्त्वम् । **अर्थः**—(स्तोः) सकार तवर्ग के स्थान पर (ष्टुना) षकार टवर्ग के साथ (ष्टुः) षकार टवर्ग हो जाता है । भाव—'स्, त्, थ्, द्, ध्, न्' इन छः वर्णों के स्थान पर 'ष्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्' ये छः वर्ण हो जाते हैं, यदि 'ष्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्' इन छः वर्णों का योग अर्थात् मेल हो तो । यहां भी पूर्ववत् स्थानी और आदेश के विषय में यथासङ्ख्य है योग के विषय में नहीं । यदि योग के विषय में भी यथासङ्ख्य होता तो षकार से परे तवर्ग को टवर्ग प्राप्त ही न हो सकता, पुनः उस के निषेध के लिये **तोः षि** (६६) सूत्र क्यों बनाते ? उदाहरण यथा—

(१) रामष्षष्ठः (राम छठा है) । 'रामस् + षष्ठः' ['राम' प्रातिपदिक से सुँ प्रत्यय लाने पर रुँत्व-विसर्ग हो **वा शरि** (१०४) द्वारा विकल्प कर के विसर्ग होने पर तदभावपक्ष में सकार आदेश हो जाता है । उसी पक्ष का यहां ग्रहण किया गया है ।] यहां षकार के साथ योग होने से सकार को षकार हो 'रामष्षष्ठः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

(२) रामष्टीकते (राम जाता है) । 'रामस् + टीकते' [यहां राम शब्द से 'सुँ' प्रत्यय ला कर रुँत्व-विसर्ग हो, **विसर्जनीयस्य सः** (१०३) से पुनः सकारादेश हो जाता है] यहां टकार के साथ सकार का योग है । अतः सकार को षकार आदेश हो 'रामष्टीकते' प्रयोग सिद्ध होता है । सकार का यह दूसरा उदाहरण यह जतलाने के लिये दिया गया है कि योग के विषय में यथासङ्ख्य नहीं होता ।

(३) पेष्टा (पीसने वाला; पीसेगा) । 'पेष् + ता' [**पिष्लृँ सञ्चूर्णने** (रुधा०) धातु से तृच् प्रत्यय या लुँट् के प्रथमपुरुष का एकवचन करने पर **पुगन्तलघूपधस्य च** (४५१) सूत्र से इकार को एकार गुण हो जाता है ।] यहां षकार के साथ योग होने से तकार को टकार हो कर—'पेष्टा' प्रयोग सिद्ध होता है ।

नोट—'ष्टु परे होने पर' ऐसा न कह कर 'ष्टु के साथ योग होने पर' ऐसा इस लिये कहा है कि 'पेष्टा' आदि में 'ष्टु' का पूर्वयोग होने पर भी 'स्तु' को 'ष्टु' हो जाए। सूत्रे 'ष्टुना' इत्यत्र सहयोगे तृतीया बोध्या।

(४) तट्टीका (उस की टीका, अथवा वह टीका)। 'तद्+टीका' [यहां 'तस्य टीका' ऐसा षष्ठी-तत्पुरुष अथवा कर्मधारयसमास हो **सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः** वार्त्तिक से पुंवद्भाव समझना चाहिये।] यहां टकार के योग में दकार को डकार हो कर **खरि च** (७४) सूत्र से डकार को टकार करने से 'तट्टीका' प्रयोग सिद्ध होता है। ग्रन्थकार को यहां पर बल्कि 'सच्चित्' प्रयोग पर ही **खरि च** (७४) सूत्र दर्शाना उचित था।

नोट—यहां पर कुछ लोग 'तत्+टीका' ऐसा छेद करके सीधा ष्टुत्व कर दिया करते हैं, यह नितान्त अशुद्ध है, क्योंकि **ष्टुना ष्टुः** (८.४.४०) सूत्र की दृष्टि में **खरि च** (८.४.५४) सूत्र असिद्ध है अतः ष्टुत्व से पूर्व चर्त्व नहीं हो सकता; और यदि 'तद्' शब्द को दकारान्त न मान कर तकारान्त मानते हैं तो 'अतितद्, अतितदौ, अतितदः' इत्यादि प्रयोग उपपन्न नहीं हो सकते।

(५) चक्रिण्ढौकसे (हे चक्रधारिन्! तुम जाते हो)। 'चक्रिन्+ढौकसे' यहां ढकार का योग होने से नकार को णकार हो कर 'चक्रिण्ढौकसे' प्रयोग सिद्ध होता है।

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(६५) न पदान्ताट्टोरनाम् ।८।४।४१॥

पदान्तात् टवर्गात् परस्याऽनामः स्तोः ष्टुर्न स्यात्। षट् सन्तः। षट् ते। पदान्तात् किम्? ईट्टे। टोः किम्? सर्पिष्टमम्॥

अर्थः—पदान्त टवर्ग से परे 'नाम्' के नकार को छोड़ कर अन्य सकार तवर्ग को षकार टवर्ग नहीं होता।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। पदान्तात् ।५।१। टोः ।५।१। अनाम् ।६।१। (यहां षष्ठी के एकवचन 'ङस्' का लुक् हुआ है)। स्तोः ।६।१। (**स्तोः श्चुना श्चुः** से)। ष्टुः ।१।१। (**ष्टुना ष्टुः** से)। अर्थः—(पदान्तात्) पदान्त (टोः) टवर्ग से परे (अनाम्) नाम्शब्द के अवयव से भिन्न (स्तोः) सकार तवर्ग के स्थान पर (ष्टुः) षकार टवर्ग (न) नहीं होता। यह सूत्र **ष्टुना ष्टुः** (६४) सूत्र का अपवाद है। उदाहरण यथा—

(१) षट् सन्तः (छः सज्जन)। 'षड्+सन्तः' [यहां 'षड्' सुँबन्त होने से पदसंज्ञक है। इस रूप में प्रथम **ङः सि धुँट्** (८४) द्वारा वैकल्पिक 'धुँट्' होता है। जहां 'धुँट्' नहीं होता, उस पक्ष का यहां ग्रहण समझना चाहिये] यहां **खरि च** (८.४.५४) के असिद्ध होने से **ष्टुना ष्टुः** (८.४.४०) द्वारा सकार को षकार प्राप्त होता है। पुनः इस सूत्र से उस का निषेध हो जाता है क्योंकि यहां पदान्त टवर्ग (डकार) से परे स्तु (सकार) को ष्टुत्व (षकार) करना है। अब **खरि च** (७४) से डकार को टकार हो कर—'षट् सन्तः' प्रयोग सिद्ध होता है।

(२) षट् ते (वे छः)। 'षड्+ते' यहां **खरि च** (८.४.५४) के असिद्ध होने से **ष्टुना ष्टुः** (८.४.४०) द्वारा ष्टुत्व अर्थात् तकार को टकार प्राप्त होता है; इस

पर इस सूत्र से निषेध हो कर पुनः **खरि च** (७४) से चर्त्व टकार करने से 'षट् ते' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—लिण्निमित्तः, इण्न, लिट्सु आदि प्रयोगों में भी ष्टुत्व का निषेध समझ लेना चाहिये।

पदान्तात् किम् ? ईट्टे।

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि पदान्त टवर्ग क्यों कहा ? केवल टवर्ग ही कह देते तो क्या हानि थी ? इस का उत्तर यह है कि यदि 'पदान्त' न कहते तो 'ईट्टे' (वह स्तुति करता है) यह प्रयोग अशुद्ध हो जाता। तथाहि—'ईड्+ते' [**ईड्ँ स्तुतौ** (अदा०) धातु से लँट्, उसे 'त' आदेश, शप्, उस का लुक् तथा 'त' की टि=अकार को एकार हो यह रूप निष्पन्न होता है] यहां **खरि च** (८.४.५४) के असिद्ध होने से प्रथम **ष्टुना ष्टुः** (८.४.४०) से तकार को टकार तदनन्तर **खरि च** (८.४.५४) से डकार को टकार हो कर 'ईट्टे' प्रयोग सिद्ध होता है। अब यदि **न पदान्ताट्टोरनाम्** (६५) सूत्र में 'टोः' पद का विशेषण 'पदान्तात्' नहीं बनाते तो यहां अपदान्त डकार से परे भी तवर्ग को टवर्ग करने का निषेध हो जाता; जो अनिष्ट था। अब 'पदान्तात्' कहने से कुछ भी दोष नहीं आता।

टोः किम् ? सर्पिष्टमम्।

प्रश्न—इस सूत्र में 'टवर्ग' का ग्रहण क्यों किया है ? केवल **न पदान्तादनाम्** इतना ही कह देते; अर्थात् 'पदान्त वर्ण से परे नाम् के नकार को छोड़ अन्य सकार तवर्ग को षकार टवर्ग नहीं होता' इतने मात्र के कथन से क्या हानि हो सकती थी ?

उत्तर—यदि 'टवर्ग' का ग्रहण न करते तो पदान्त षकार से परे भी 'स्तु' को 'ष्टु' होने का निषेध हो जाता; इस से 'सर्पिष्टमम्' आदि प्रयोगों में ष्टुत्व न हो सकने से अनिष्ट हो जाता। तथाहि—'सर्पिस्' शब्द से 'तमप्' प्रत्यय करने पर **ह्रस्वात्तादौ तद्धिते** (८.३.१०१) सूत्र से सकार को षकार हो 'सर्पिष्+तम'। अब **ष्टुना ष्टुः** (६४) से ष्टुत्व अर्थात् तकार को टकार करने से 'सर्पिष्टमम्' (उत्तम घृत) प्रयोग निष्पन्न होता है। यहां **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) सूत्र से 'सर्पिष्' की पद सञ्ज्ञा होने के कारण षकार पदान्त हो जाता है[1]। अब यदि **न पदान्ताट्टोरनाम्** (६५) सूत्र में 'टोः' का ग्रहण न करते तो यहां पदान्त षकार से परे तकार को टकार होने का निषेध हो अनिष्ट रूप हो जाता; अतः सूत्र में 'टोः' का ग्रहण परमावश्यक है।

[लघु०] वा०—(१०) अनाम्नवति-नगरीणामिति वाच्यम् ॥

षण्णाम्। षण्णवतिः। षण्णगर्यः ॥

अर्थः—पदान्त टवर्ग से परे नाम्, नवति तथा नगरी शब्दों के नकार को छोड़ अन्य सकार तवर्ग को षकार टवर्ग न हो—ऐसा कहना चाहिये।

---

१. यहां यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि **झलाञ्जशोऽन्ते** (६७) से षकार को डकार हो टवर्ग हो जाने से **न पदान्ताट्टोरनाम्** (६५) द्वारा ष्टुत्व का निषेध क्यों न हो जाये ? स्मरण रहे कि **ह्रस्वात्तादौ तद्धिते** (८.३.१०१) द्वारा किया गया षत्व **झलाञ्जशोऽन्ते** (८.२.३९) की दृष्टि में असिद्ध है। अतः डकारादेश नहीं होता।

व्याख्या—सूत्रकार [भगवान् पाणिनि] ने **न पदान्ताट्टोरनाम्** (६५) में केवल नाम् के नकार को ही ष्टुत्वनिषेध से मुक्त किया था; अतः नवति तथा नगरी शब्दों में ष्टुत्व-निषेध प्राप्त होने से दोष उत्पन्न होता था। यह देख कर वार्त्तिककार कात्यायन ने वार्तिक बनाया कि केवल 'नाम्' के नकार को ही ष्टुत्वनिषेध से मुक्त नहीं करना चाहिये, अपितु 'नवति' और 'नगरी' शब्दों को भी ष्टुत्वनिषेध से मुक्त कर देना चाहिये। वार्तिक में पुनः 'नाम्' का ग्रहण अनुवादार्थ है। उस के ग्रहण न करने से उस का बाध हो जाता; क्योंकि वार्तिक सूत्र का बाधक होता है।

इन के उदाहरण यथा—

(१) षण्णाम् (छः का)। 'षड्+नाम्' ['षष्' शब्द से षष्ठी का बहुवचन 'आम्' प्रत्यय करने पर 'षष्+आम्'। **ष्णान्ता षट्** (२६७) से 'षष्' की षट् सञ्ज्ञा हो कर **षट्चतुर्भ्यश्च** (२६६) से 'आम्' को नुँडागम कर 'षष्+नाम्'। अब **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) से पद सञ्ज्ञा हो **झलाञ्जशोऽन्ते** (६७) से षकार को डकार करने से 'षड्+नाम्' रूप बनता है] यहां **न पदान्ताट्टोरनाम्** (६५) सूत्र में ष्टुत्व निषेध से 'नाम्' को मुक्त कर देने के कारण पदान्त टवर्ग=डकार से परे नकार को **ष्टुना ष्टुः** (६४) से ष्टुत्व=णकार हो, **प्रत्यये भाषायां नित्यम्** (वा० ११) वार्तिक द्वारा डकार को भी नित्य णकार करने से 'षण्णाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

(२) षण्णवतिः (छियानवे)। 'षड्+नवति' ('षडधिका नवतिः' या 'षट् च नवतिश्च' इस विग्रह में क्रमशः तत्पुरुष और द्वन्द्व करने पर विभक्तियों का लुक् हो 'षड्+नवति' होता है। यहां उसी का ग्रहण है।) यहां **अनाम्नवति०** (वा० १०) इस प्रकृत वार्तिक में ष्टुत्वनिषेध से 'नवति' के मुक्त हो जाने के कारण पदान्त टवर्ग=डकार से परे नकार को **ष्टुना ष्टुः** (६४) से ष्टुत्व=णकार हो कर **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** (६८) सूत्र द्वारा डकार को भी विकल्प कर के णकार करने पर विभक्ति लाने से 'षण्णवतिः' तथा 'षड्णवतिः' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

(३) षण्णगर्यः (छः नगरियां हैं)। 'षड्+नगर्यः' यहां **अनाम्नवति०** (वा० १०) इस प्रकृत वार्त्तिक में ष्टुत्व-निषेध से 'नगरी' के भी मुक्त हो जाने के कारण पदान्त टवर्ग=डकार से परे नकार को **ष्टुना ष्टुः** (६४) से ष्टुत्व=णकार हो, **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** (६८) सूत्र द्वारा डकार को भी विकल्प करके णकार करने से 'षण्णगर्यः' तथा 'षड् णगर्यः' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। ध्यान रहे कि यहां समास नहीं है।

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—**(६६) तोः षि ।८।४।४२॥**

(तवर्गस्य षकारे परे) न ष्टुत्वम् । सन्षष्ठः ॥

अर्थः—षकार परे होने पर तवर्ग के स्थान पर षकार-टवर्ग नहीं होता।

व्याख्या—तोः ।६।१। षि ।७।१। न इत्यव्ययपदम् (**न पदान्ताट्टोरनाम्** से)। ष्टुः ।१।१। (**ष्टुना ष्टुः** से)। अर्थः—(षि) षकार परे होने पर (तोः) तवर्ग के

स्थान पर (ष्टुः) षकार टवर्ग (न) नहीं होता। यह सूत्र **ष्टुना ष्टुः** (६४) का अपवाद है। उदाहरण यथा—

'सन्+षष्ठः' यहां षकार के योग में **ष्टुना ष्टुः** (६४) से नकार को णकार प्राप्त होता है, जो अब इस सूत्र से निषेध कर देने के कारण नहीं होता—सन्षष्ठः (छठा श्रेष्ठ है)।

स्मरण रहे कि यद्यपि यहां 'ष्टु' की अनुवृत्ति आती है तथापि तवर्ग के स्थान पर प्राप्त टवर्ग का ही इस सूत्र से निषेध होता है, क्योंकि षकार तो टवर्ग के स्थान पर प्राप्त ही नहीं, जो प्राप्त नहीं उस का पुनः निषेध कैसा ?

यद्यपि यह **तोः षि** (८.४.४२) सूत्र **ष्टुना ष्टुः** (८.४.४०) सूत्र की दृष्टि में असिद्ध है, तथापि वचनसामर्थ्य से यह उस का अपवाद है। **अपवादो वचनप्रामाण्याद्** इति भाष्यम्।

अभ्यास (१६)

(१) अधोलिखित रूपों में सन्धिविच्छेद कर सन्धि-विधायक सूत्र लिखें—
१. न पदान्ताट्टोरनाम्। २. कृषीष्ट। ३. गरुत्माण्डयते। ४. टिड्ढाणञ्०। ५. पेष्टुम्। ६. सोमसुड्ढौकसे। ७. दृष्टः। ८. स्याण्णौ।

(२) निम्नलिखित रूपों में सूत्र-निर्देश-पूर्वक सन्धि करें—
१. भवान्+षण्ढः। २. हरिस्+षडङ्गमधीते। ३. परिव्राट्+साधुः। ४. सोमसुत्+षडङ्गमधीते। ५. अग्निचित्+ठकार। ६. राट्+नगरी। ७. इट्+न। ८. हेतुमत्+णौ।

(३) **ष्टुना ष्टुः** (८.४.४०) की दृष्टि में **तोः षि** (८.४.४२) सूत्र त्रिपादी पर होने से असिद्ध है; तो पुनः किस प्रकार यह उस का अपवाद हो सकता है ?

——::०::——

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६७) **झलां जशोऽन्ते।८।२।३९॥**

पदान्ते झलां जशः स्युः। वागीशः॥

अर्थः—पद के अन्त में झलों के स्थान पर जश् हों।

व्याख्या—पदस्य।६।१। (यह अधिकृत है)। अन्ते।७।१। झलाम्।६।३। जशः।१।३। अर्थः—(पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में (झलाम्) झलों के स्थान पर (जशः) जश् हो जाते हैं। भाव—झल् प्रत्याहार में वर्गों के चौथे, तीसरे, दूसरे, पहले तथा ऊष्म वर्ण आते हैं। ये वर्ण यदि पद के अन्त में स्थित होंगे तो इन के स्थान पर 'जश्', अर्थात् वर्गों के तीसरे वर्ण हो जाएंगे। **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) से जिस का जिस के साथ स्थान तुल्य होगा; उस के स्थान पर वही आदेश होगा। यहां हम संपूर्ण स्थानी और आदेश वर्णों की तालिका नीचे दे रहे हैं—

झल् वर्ण (जिन के स्थान पर 'जश्' होता है)					साम्य (स्थान)	जश् वर्ण (जो आदेश होते हैं)
झ्	ज्	छ्	च्	श्	तालु	ज्
भ्	ब्	फ्	प्		ओष्ठ	ब्
घ्	ग्	ख्	क्	ह्[1]	कण्ठ	ग्
ढ्	ड्	ठ्	ट्	ष्	मूर्धा	ड्
ध्	द्	थ्	त्	स्[2]	दन्त	द्

उदाहरण यथा---वागीशः (वाणी का पति—बृहस्पति)। 'वाक्+ईश' [वाचामीशः=वागीशः। षष्ठीतत्पुरुषः। यहां समास में विभक्तियों का लुक् होने पर **चोः कुः** (३०६) से पदान्त चकार को ककार हो जाता है।] यहां इस सूत्र से पदान्त झल्=ककार के स्थान पर जश्=गकार हो कर विभक्ति लाने से 'वागीशः' प्रयोग सिद्ध होता है। इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

१. सुप्+अन्त=सुबन्तः (सुप् अन्ते यस्य स सुबन्तः)। २. तिप्+अन्त=तिबन्तः (तिप् अन्ते यस्य स तिबन्तः)। ३. समिध्+अत्र=समिदत्र। ४. समिध्+आधानम्=समिदाधानम्। ५. सम्राट्+इच्छति=सम्राडिच्छति। ६. विद्युत्+गच्छति=विद्युद् गच्छति। ७. त्रिष्टुभ्+आदि=त्रिष्टुबादिः। ८. अनुष्टुभ्+एव=अनुष्टुबेव। ९. वाक्+अत्र=वागत्र। १०. जगत्+ईश=जगदीशः (जगत ईशः=जगदीशः)। ११. अग्निमथ्+भ्याम्=अग्निमद्भ्याम्। १२. षष्+आगच्छन्ति=षडागच्छन्ति। १३. अप्+ज=अब्जम् (अद्भ्यो जायत इत्यब्जम्)। १४. त्विष्+भ्याम्=त्विड्भ्याम्। १५. अच्+अन्त=अजन्तः।

इस सूत्र का फल प्रायः तभी दिखाई देता है जब झलों से परे 'खर्' न हों। खर् परे होने पर इस के किये कार्य को **खरि च** (७४) नष्ट कर देता है। यथा—'जगत्+तिष्ठति' यहां **झलां जशोऽन्ते** (६७) से त् को द् हो **खरि च** (७४) से पुनः दकार को 'त्' हो गया है। इस लिये इस का फल अश् प्रत्याहार परे होने पर ही प्रतीत होता है।

ध्यान रहे कि इस सूत्र की दृष्टि में **खरि च** (८.४.५५) तथा **स्तोः श्चुना श्चुः** (८.४.४०) आदि सूत्र असिद्ध हैं, परन्तु उन की दृष्टि में यह असिद्ध नहीं।

---

१. **हो ढः** (२५१) आदि सूत्र 'ह्' के जश्त्व का बाध कर लेते हैं।
२. **ससजुषो रुः** (१०५) सूत्र पदान्त में 'स्' के जश्त्व का बाध कर लेता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६८) **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ।८।४।४४।।**

यरः पदान्तस्याऽनुनासिके परेऽनुनासिको वा स्यात् । एतन्मुरारिः, एतद्मुरारिः ।।

अर्थः—अनुनासिक परे होने पर पदान्त यर् के स्थान पर विकल्प कर के अनुनासिक हो जाता है ।

व्याख्या—पदान्तस्य ।६।१। (**न पदान्ताट्टोरनाम्** से विभक्तिविपरिणाम द्वारा)। यरः ।६।१। अनुनासिके ।७।१। अनुनासिकः ।१।१। वा इत्यव्ययपदम् । अर्थः—(अनुनासिके) अनुनासिक परे होने पर (पदान्तस्य) पदान्त (यरः) यर् के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (अनुनासिकः) अनुनासिक आदेश हो जाता है । जो वर्ण मुख और नासिका दोनों से बोला जाये उसे 'अनुनासिक' कहते हैं [**मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः** (९)] । अनुनासिक अच् और हल् दोनों प्रकार के होते हैं । पदान्त यर् से परे अनुनासिक अच् कहीं नहीं देखा जाता; अतः यहां हल् अनुनासिकों का ही ग्रहण होगा । हल् अनुनासिक पांच हैं—१. ङ्, २. ञ्, ३. ण्, ४. न्, ५. म् । इन पांच वर्णों में से किसी वर्ण के परे होने पर पदान्त यर् को विकल्प कर के अनुनासिक होगा । **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) से वही अनुनासिक होगा; जिस का यर् के साथ स्थान तुल्य होगा । यथा—कवर्ग को ङ्, चवर्ग को ञ्, टवर्ग को ण्, तवर्ग को न्, पवर्ग को म् ।

उदाहरण यथा—

'एतद्+मुरारि' (एतस्य मुरारिः—एतद्मुरारिः, षष्ठीतत्पुरुषः, एष मुरारिः—एतद्मुरारिः, कर्मधारयसमासो वा) यहां समास में विभक्तियों का लुक् हो चुकने पर **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** (१९०) की सहायता से **सुँप्तिङन्तम्पदम्** (१४) द्वारा एतद् की पद-सञ्ज्ञा हो जाती है; इस प्रकार दकार पद का अन्त ठहरता है । इस से परे मकार **मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः** (९) के अनुसार अनुनासिक है । इस के परे होने पर अब दकार=यर् को अनुनासिक करना है । **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) से दकार को नकार ही अनुनासिक होगा (**लृतुलसानां दन्ताः**) । तो इस प्रकार दकार को विकल्प कर के अनुनासिक नकार हो कर विभक्ति लाने से 'एतन्मुरारिः, एतद्मुरारिः' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। इस सूत्र के कुछ उदाहरण यथा—

१. अग्निचित्+नयति=अग्निचिद्+नयति (**झलां जशोऽन्ते**)=अग्निचिन्नयति । २. तद्+न=तन्न । ३. दिग्+नाग=दिङ्नागः । इसी प्रकार—**क्त्रेर्मम् नित्यम्, नद्याम्नीभ्यः, आण् नद्याः** । अन्य उदाहरण अभ्यास में देखें ।

यर् प्रत्याहार में यद्यपि ह् को छोड़ सब व्यञ्जन आ जाते हैं तथापि यहां यर् से केवल स्पर्श (वर्गगत) वर्णों का ही ग्रहण अभीष्ट है—**स्पर्शस्यैवेष्यते** । अत एव चतुर्मुखः, प्रातर्नयति, स्वर्नाम आदि में पदान्त भी रेफ को अनुनासिक=णकार नहीं होता । इस का स्पष्टीकरण **सिद्धान्तकौमुदी** में देखें । यहां पर यर्ग्रहण **अचो रहाभ्यां द्वे** (६०) आदि उत्तरसूत्रों में अनुवृत्ति के लिये है ।

पदान्त ग्रहण का यह प्रयोजन है कि—'शङ्ख्ध्माः' आदि में अपदान्त यर् को अनुनासिक न हो ।

[लघु०] वा०—(११) प्रत्यये भाषायां नित्यम् ॥

तन्मात्रम् । चिन्मयम् ॥

अर्थः—लोक में अनुनासिकादि प्रत्यय परे होने पर पदान्त यर् को नित्य अनुनासिक हो जाता है ।

व्याख्या—प्रत्यये ।७।१। भाषायाम् ।७।१। नित्यम् ।२।१। (क्रियाविशेषणम्) । यह वार्त्तिक **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** (६८) सूत्र पर भाष्य में पढ़ा गया है; अतः तद्विषयक ही समझना चाहिये । अतः इस का अर्थ होगा—(भाषायाम्) लोक में (अनुनासिके) अनुनासिकादि (प्रत्यये) प्रत्यय परे होने पर (पदान्तस्य) पदान्त (यरः) यर् के स्थान पर (नित्यम्) नित्य (अनुनासिकः) अनुनासिक हो । पूर्वसूत्र से विकल्प प्राप्त होने पर इस से नित्य अनुनासिक होता है । उदाहरण यथा—

(१) तन्मात्रम् (उतना ही) । 'तद्+मात्र' [तत् प्रमाणमस्येति तन्मात्रम्, **प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः** (११६८) इति मात्रच्-प्रत्ययः ।] यहां 'मात्रच्' प्रत्यय हो कर तद्धितान्त की प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा होने से **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) द्वारा तद् शब्द से परे सुँ प्रत्यय का लुक् हो जाता है; अतः 'एतद्मुरारिः' प्रयोग-गत 'एतद्' शब्द की तरह यहां भी दकार पदान्त है । इस पदान्त दकार=यर् से परे 'मात्रच्' यह अनुनासिकादि प्रत्यय किया गया है; अतः दकार को तत्सदृश नकार नित्य अनुनासिक हो कर विभक्ति लाने से 'तन्मात्रम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1] ।

(२) चिन्मयम् (चेतनस्वरूप) । 'चित्+मय' [चिदेव चिन्मयम्, **नित्यं वृद्धशरादिभ्यः** (१११३) इत्यत्र 'नित्यम्' इति योग-विभागात् स्वार्थे मयट्] यहां 'मयट्' प्रत्यय हो कर तद्धितान्त की प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा होने से **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) द्वारा सुँ प्रत्यय का लुक् हो जाता है; अतः तकार पदान्त है । इस पदान्त तकार को प्रथम **झलां जशोऽन्ते** (६७) सूत्र से दकार हो कर पुनः इस वार्त्तिक से नित्य अनुनासिक नकार हो जाता है; तब विभक्ति लाने से 'चिन्मयम्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

ध्यान रहे कि इस वार्त्तिक से भी पूर्ववत् पदान्त यर् को ही अनुनासिक विधान किया जाता है, अपदान्त यर् को नहीं । अत एव—'स्वप्नः, यत्नः, क्षुभ्नाति, मथ्नाति, बध्नाति, मृद्नाति, वेद्मि' आदि प्रयोगों में अनुनासिकादि प्रत्यय परे होने पर भी अपदान्त यर् को अनुनासिक नहीं होता ।

नोट—यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि **झलां जशोऽन्ते** (८.२.३९) की दृष्टि में यह सूत्र (८.४.४४) असिद्ध है; अतः जहां **झलां जशोऽन्ते** (६७) सूत्र का विषय होगा वहां प्रथम जश्त्व हो कर पश्चात् अनुनासिक होगा ।

---

१. यहां नकार के असिद्ध होने से **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** द्वारा नलोप नहीं होता ।

अभ्यास (१७)

(१) निम्नलिखित रूपों में सूत्र-समन्वय करते हुए सन्धिच्छेद करें—
१. षण्मासाः । २. एतन्मनोहरः । ३. इण्निषेधः । ४. तण्णकारः[1] । ५. त्रिष्टुम्नाम । ६. तन्न । ७. सन्मार्गः । ८. मृन्मयम्[2] । ९. क्षुद्भिः । १०. सोमसुन्नयति । ११. त्वङ्मनसी । १२. ककुबीशः । १३. ककुम्नायकः । १४. वाङ्मयम् । १५. अम्मयम् । १६. कियन्मात्रम् ।

(२) निम्न-लिखित प्रयोगों में सूत्रोपन्यासपूर्वक सन्धि करें—
१. विपद्+मय । २. यद्+नैति । ३. तद्+ञकार[3] । ४. मनाक्+हसति । ५. अप्+मात्र । ६. अग्निचित्+ङकार । ७. कतिचित्+दिनानि । ८. मद्+नीतिः । ९. धिक्+मूर्खम् । १०. सत्+आचार । ११. वाक्+मलम् । १२. जगत्+नाथ । १३. ऋक्+मन्त्र ।

(३) निम्न-लिखित रूपों में सन्धि न करने का कारण बताओ ।
१. वेद्+मि । २. गरुत्+मत्[4] । ३. गृभ्+णाति । ४. प्रश्+न । ५. चतुर्+मुख । ६. प्रातर्+नमामि ।

(४) (क) खर् परे होने पर **झलां जशोऽन्ते** का फल क्यों प्रतीत नहीं होता?
(ख) 'शङ्ख्ध्माः' में धकार को अनुनासिक क्यों नहीं होता ?
(ग) सुँप् परे न होने पर भी 'एतन्मुरारिः' में दकार कैसे पदान्त है ?

——::०::——

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६९) **तोर्लि** ।८।४।५९।।

तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णः । तल्लयः । विद्वाल्ँ लिखति । नस्याऽनुनासिको लः ।।

अर्थः—लकार परे होने पर तवर्ग के स्थान पर पर-सवर्ण आदेश होता है ।

व्याख्या—तोः ।६।१। लि ।७।१। पर-सवर्णः ।१।१। (**अनुस्वारस्य ययि पर-सवर्णः** से) । समासः—परस्य सवर्णः=परसवर्णः, षष्ठी-तत्पुरुषः । अर्थः—(लि) लकार परे होने पर (तोः) तवर्ग के स्थान पर (पर-सवर्णः) पर-सवर्ण आदेश होता है । भाव यह है कि तवर्ग से जब लकार परे होगा तो तवर्ग के स्थान पर—पर अर्थात् लकार का सवर्ण आदेश किया जायेगा । लकार का लकार के सिवाय अन्य कोई सवर्ण नहीं, अतः तवर्ग के स्थान पर लकार ही आदेश होगा ।

लकार दो प्रकार का होता है, एक अनुनासिक (लँ) और दूसरा अननुना-

---

१. यहां अनुनासिक-विधायक सूत्र के असिद्ध होने से प्रथम ष्टुत्व कर लेना चाहिये ।
२. अत्र **प्रत्यये भाषायामिति** मृदो दकारस्य नकारः । स च णत्वविधिं (२३६) नलोपविधिं (१८०) च प्रत्यसिद्धस्तेन मृन्मयमित्येव ।
३. यहां पर प्रथम श्चुत्व कर लेना चाहिये ।
४. यहां पर **तसौ मत्वर्थे** (११८६) सूत्र से भ सञ्ज्ञा होती है । पदान्त न होने से अनुनासिक नहीं होता ।

सिक (ल्)। **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) के अनुसार तवर्गस्थ अनुनासिक वर्ण के स्थान पर अनुनासिक लकार तथा अननुनासिक वर्ण के स्थान पर अननुनासिक लकार होगा। तवर्गों में नकार के सिवाय अन्य कोई अनुनासिक नहीं; अतः केवल नकार के स्थान पर ही अनुनासिक लकार तथा शेष तवर्गीय वर्णों के स्थान पर अननुनासिक लकार होगा। उदाहरण यथा—

तल्लयः (उस में नाश वा उस का नाश)। 'तद्+लय' (तस्मिँस्तस्य वा लयः—तल्लयः, सप्तमीतत्पुरुषः, षष्ठी-तत्पुरुषो वा) यहां तवर्ग =दकार से परे लकार विद्यमान है, अतः **तोर्लि** (६९) सूत्र से दकार के स्थान पर पर-सवर्ण =लकार कर के विभक्ति लाने से 'तल्लयः' प्रयोग सिद्ध होता है।

विद्वाल्ँ लिखति (विद्वान् लिखता है)। 'विद्वान्+लिखति' इस दशा में **तोर्लि** (६९) सूत्र से नकार को पर-सवर्ण लकार आदेश होता है, परन्तु नकार के अनुनासिक होने से लकार भी अनुनासिक आदेश हो कर 'विद्वाल्ँ लिखति' प्रयोग सिद्ध होता है।

इस के कुछ अन्य उदाहरण यथा—१. विपद्+लीन =विपल्लीनः। २. कश्चिद्+लभते=कश्चिल्लभते। ३. कुशान्+लुनाति=कुशाल्ँ लुनाति। ४. महान्+लाभः=महाल्ँ लाभः। ५. उद्+लेख=उल्लेखः। ६. धनवान्+लुनीते=धनवाल्ँ लुनीते। ७. हनुमान्+लङ्कां दहति=हनुमाल्ँ लङ्कां दहति। ८. हसन्+लेढि =हसल्ँ लेढि। ९. जगद्+लीयते=जगल्लीयते। १०. तद्+लीला =तल्लीला। ११. तद्+लीन=तल्लीनः। १२. यद्+लक्षणम् =यल्लक्षणम्। १३. चिद्+लयः =चिल्लयः। १४. विद्युद्+लेखा=विद्युल्लेखा।

'तस्मात्+लृकारात्' इत्यादि में **तोर्लि** (६९) प्रवृत्त नहीं होगा, क्योंकि इस में 'ल'—सदृश है, 'ल' नहीं। केवल जश्त्व ही होगा 'तस्माद् लृकारात्'।

ध्यान रहे कि यह सूत्र **झलां जशोऽन्ते** (६७) की दृष्टि में असिद्ध है; अतः जहां उस का विषय होगा वहां प्रथम जश्त्व हो कर पश्चात् **तोर्लि** (६९) सूत्र प्रवृत्त होगा। यथा—जगत्+लीयते=जगद्+लीयते=जगल्लीयते।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(७०) उदः स्था-स्तम्भोः पूर्वस्य ।८।४।६०॥**

उदः परयोः स्था-स्तम्भोः पूर्व-सवर्णः ॥

अर्थः—'उद्' से (परे) स्था और स्तम्भ् को पूर्वसवर्ण हो।

व्याख्या—उदः ।५।१। स्था-स्तम्भोः ।६।२। पूर्वस्य ।६।१। सवर्णः ।१।१। (**अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** से[1])। अर्थः—(उदः) 'उद्' उपसर्ग से (स्था-स्तम्भोः) स्था और स्तम्भ् के स्थान पर (पूर्वस्य) पूर्व का (सवर्णः) सवर्ण आदेश होता है।

---

१. यद्यपि **अनुस्वारस्य ययि पर-सवर्णः** (७९) सूत्र में 'पर-सवर्णः' है, तथापि अनुवृत्ति केवल 'सवर्णः' की ही आती है। इस का कारण यह है कि अनुवृत्ति अधिकृत पदों की ही आया करती है और अधिकृति **स्वरितेनाधिकारः** (१.३.११) इस सूत्र से स्वरित-स्वर के बल से होती है। पूर्व समय में उक्त सूत्र में स्वरित-

'उदः' यहां दिग्योग में पञ्चमी है; अर्थात् 'उद्' से किसी दिशा में स्थित स्था और स्तम्भ् को पूर्वसवर्ण होगा। वर्णों में दो ही दिशा सम्भव हो सकती हैं, एक पर और दूसरी पूर्व। अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या 'उद्' से पूर्वस्थित स्था और स्तम्भ् को पूर्व-सवर्ण हो या परस्थित स्था और स्तम्भ् को पूर्वसवर्ण हो ? किञ्च—यह भी प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या व्यवधान से रहित पूर्व या पर-स्थित स्था और स्तम्भ् को पूर्व-सवर्ण हो या व्यवहित पूर्व या पर स्थित स्था और स्तम्भ् को भी पूर्वसवर्ण हो ? इन शङ्काओं की निवृत्ति के लिये अग्रिम परिभाषा-सूत्र लिखते हैं।

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—(७१) **तस्मादित्युत्तरस्य** ।१।१।६६॥

पञ्चमी-निर्देशेन क्रियमाणं कार्यं वर्णान्तरेणाऽव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम् ॥

अर्थः—पञ्चम्यन्त के निर्देश से क्रियमाण कार्य अन्य वर्णों के व्यवधान से रहित पर के स्थान पर जानना चाहिये।

व्याख्या -तस्माद् इति पञ्चम्यन्तानुकरणं लुप्तपञ्चम्येकवचनान्तम् [**उदः स्था-स्तम्भोः** आदि सूत्रों में स्थित 'उदः' आदि पञ्चम्यन्त पदों का अनुकरण यहां 'तस्मात्' शब्द से किया गया है, इस के आगे पञ्चमी के एकवचन का **सुँपां सुँलुक्०** (७.१.३९) सूत्र से लुक् हुआ समझना चाहिये]। इति इत्यव्ययपदम्। निर्दिष्टात् ।५।१। (**तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** सूत्र से विभक्ति-विपरिणाम द्वारा)। उत्तरस्य ।६।१। अर्थः—(तस्माद् इति निर्दिष्टात्) **उदः स्था-स्तम्भोः पूर्वस्य** आदि सूत्रों में स्थित 'उदः' आदि पञ्चम्यन्त पदों के निरन्तर उच्चारण किये गये अर्थों से (उत्तरस्य) परले के स्थान पर कार्य होता है।

पञ्चम्यन्त पदों के अर्थों का निरन्तर उच्चारण तभी हो सकता है जब उन से अव्यवहित [व्यवधान-रहित] उत्तर को कार्य्य हो; अतः यह सुतराम् आ जाता है कि सूत्रों में स्थित पञ्चम्यन्त पदों के अर्थों से अव्यवहित पर को कार्य हो। इस सूत्र की विशेष व्याख्या **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** (१६) सूत्र के समान समझ लेनी चाहिये। हम यहां पिष्ट-पेषण करना नहीं चाहते।

इस सूत्र से अन्ततोगत्वा यह ज्ञात होता है कि उदाहरणों में पञ्चम्यन्त पद के अर्थ से अव्यवहित पर को ही कार्य हो, पूर्व को अथवा व्यवहित पर को कार्य न हो। यथा—'उद्+प्रस्थानम्' यहां यद्यपि 'उद्' से 'स्था' परे है, तथापि 'प्र' शब्द का मध्य में व्यवधान होने से **उदः स्थास्तम्भोः०** (७०) सूत्र द्वारा पूर्व-सवर्ण नहीं होता। इसी प्रकार **तिङ्ङतिङः** (८.१.२८) [अतिङन्त से तिङन्त को निघात अर्थात् सर्वानु-

---

स्वर केवल 'सवर्णः' पर था, 'पर' पर नहीं। यद्यपि अब स्वरितादि-स्वर-चिह्न नहीं रहे; तथापि **प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः** की तरह **प्रतिज्ञास्वरिताः पाणिनीयाः** भी जानना चाहिये। अथवा 'पर' में षष्ठी का लोप समझना चाहिये।

दात्तस्वर हो] सूत्र 'ईडे अग्निम्' में प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि 'अग्निम्' इस अतिङन्त पद से 'ईडे' यह तिङन्त पद परे नहीं; पूर्व में वर्त्तमान है ।

यह परिभाषा-सूत्र है । परिभाषाएं प्रयोगसिद्धि में स्वतन्त्रतया कुछ कार्य नहीं किया करतीं, अपितु सूत्रों के अर्थों में मिश्रित हो कर प्रयोगसिद्धि किया करती हैं; यह हम पीछे लिख चुके हैं । इस के अनुसार यह परिभाषा भी **उदः स्था-स्तम्भोः पूर्वस्य** (७०)आदि सूत्रों के साथ मिल कर एकार्थ उत्पन्न करेगी । तो अब **उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य** (७०) सूत्र का यह अर्थ हो जायेगा—'उद्' से अव्यवहित पर स्था और स्तम्भ् को पूर्व-सवर्ण आदेश हो । इसी प्रकार **तिङ्ङतिङः** (८.१.२८) सूत्र का यह अर्थ होगा —अतिङन्त पद से अव्यवहित पर तिङन्त के स्थान पर निघात अर्थात् सर्वानुदात्त-स्वर हो ।

'उद्+स्थान' 'उद्+स्तम्भन' इन दोनों स्थानों पर 'उद्' से परे अव्यवहित स्था और स्तम्भ् विद्यमान हैं; अतः इन के स्थान पर पूर्व-सवर्ण करना है । अब 'स्था-स्तम्भोः' के षष्ठ्यन्त होने से **अलोऽन्त्यस्य** (२१) सूत्र से इन के अन्त्य अल् के स्थान पर पूर्व-सवर्ण प्राप्त होता है; इस पर **अलोऽन्त्यस्य** (२१) की अपवाद परिभाषा लिखते हैं—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—**(७२) आदेः परस्य ।१।१।५३।।**

परस्य यद् विहितं तत् तस्यादेर्बोध्यम् । इति सस्य थः ।।

अर्थः—पर के स्थान पर जो कार्य विधान किया जाता है, वह कार्य उस (पर) के आदि वर्ण के स्थान पर समझना चाहिये ।

व्याख्या—आदेः ।६।१। अलः ।६।१। (**अलोऽन्त्यस्य** से)। परस्य ।६।१। अर्थः—(परस्य) पर के स्थान पर विधान किया कार्य (आदेः) उस के आदि (अलः) अल् के स्थान पर होता है । यहां सूत्रार्थ, अनुकूल पदों का अध्याहार कर के ही किया जाता है ।

'उद्+स्थान' 'उद्+स्तम्भन' यहां **तस्मादित्युत्तरस्य** (७१) परिभाषा की सहायता से **उदः स्था-स्तम्भोः पूर्वस्य** (७०) सूत्र द्वारा परले स्था और स्तम्भ् को पूर्व-सवर्ण होना था; अब वह इस परिभाषा द्वारा पर के आदि अर्थात् सकार को होगा।

अब यहां यह विचार प्रस्तुत होता है कि स् को पूर्व (दकार) का कौन सा सवर्ण हो ? क्योंकि पूर्व (दकार) का एक सवर्ण नहीं किन्तु पांच सवर्ण हैं—त्, थ्, द्, ध्, न् । इस शङ्का की निवृत्ति के लिये **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) सूत्र उपस्थित हो कर कहता है कि 'प्राप्त हुए आदेशों में अत्यन्त सदृश आदेश हो' । इस के अनुसार अब हमें 'त्, थ्, द्, ध्, न्' इन पांच वर्णों में से सकार के अत्यन्त सदृश वर्ण ढूंढना है । यदि यहां स्थानकृत आन्तर्य (सादृश्य) देखते हैं तो वह **लृतुलसानां दन्ताः** के अनुसार सब में समान है; अतः इस आन्तर्य से काम नहीं चल सकता । अर्थकृत और प्रमाण-कृत सादृश्य तो इन में हो ही नहीं सकता । अतः अब शेष बचे गुणकृत आन्तर्य अर्थात् यत्नों

द्वारा सादृश्य से ही परीक्षा करेंगे। यत्न—आभ्यन्तर और बाह्य दो प्रकार के होते हैं। इन में प्रथम आभ्यन्तर-यत्न तो सकार के साथ उन पांचों में से किसी का भी नहीं मिलता; क्योंकि **ईषद्विवृतमूष्मणाम्** के अनुसार सकार का 'ईषद्विवृत' और उन पांचों का **तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम्** के अनुसार 'स्पृष्ट' है। अतः बाह्य-यत्नों की दृष्टि से ही परीक्षा करते हैं। सकार का 'विवार, श्वास, अघोष और महाप्राण' बाह्य-यत्न है। उन पांचों के बाह्य-यत्न निम्नप्रकारेण हैं—

त् का बाह्ययत्न—विवार, श्वास, अघोष और अल्पप्राण है।
थ् का बाह्ययत्न—**विवार, श्वास, अघोष और महाप्राण** है।
द् का बाह्ययत्न—संवार, नाद, घोष और अल्पप्राण है।
ध् का बाह्ययत्न—संवार, नाद, घोष और महाप्राण है।
न् का बाह्ययत्न—संवार, नाद, घोष और अल्पप्राण है।

इस से सिद्ध होता है कि बाह्ययत्नों की दृष्टि से थकार ही सकार के तुल्य है। अतः सकार के स्थान पर पूर्वसवर्ण थकार ही होता है— उद्+थ्थान, उद्+थ्तम्भन। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम् (७३) **झरो झरि सवर्णे**।८।४।६४॥

हलः परस्य झरो वा लोपः सवर्णे झरि॥

अर्थः—हल् से परे झर् का विकल्प से लोप हो सवर्ण झर् परे हो तो।

व्याख्या हलः।५।१।(**हलो यमां यमि लोपः** से)। झरः।६।१। लोपः।१।१। (**हलो यमां यमि लोपः** से)। अन्यतरस्याम्।७।१। (**झयो होऽन्यतरस्याम्** से)। सवर्णे।७।१। झरि।७।१। अर्थः—(हलः) हल् से[1] (झरः) अव्यवहित पर झर् का (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में (लोपः) लोप हो जाता है (सवर्णे) सवर्ण (झरि) झर् परे हो तो।

यहां निमित्त[2] और स्थानियों[3] का यथासङ्ख्य नहीं होता; अर्थात् यहां 'झ् का झ् परे होने पर, भ् का भ् परे होने पर, घ् का घ् परे होने पर, ढ् का ढ् परे होने

---

१. हल् से परे झर् का लोप विहित होने से 'पत्त्रम्, दत्त्वा, तत्त्वम्, सत्त्वम्, कित्त्वम्, ङित्त्वम्, मित्त्रम्, क्षत्त्रियः, छत्त्रम्, छात्त्रः, पुत्त्रः' इत्यादि में 'त्' का और 'वाग्ग्मी' में 'ग्' का लोप नहीं होगा। पत्र, तत्व, कित्व, वाग्मी आदि लिखना अपाणिनीय है।

२ जिसके होने पर कोई कार्य हो उसे 'निमित्त' कहते हैं यथा **इको यणचि** (१५) में अच् परे होने पर इक् को यण् होता है तो अच् निमित्त है। **झरो झरि सवर्णे** (७३) सूत्र में झर् परे होने पर झर् का लोप कहा गया है तो परला 'झर्' निमित्त है।

३. जिस के स्थान पर कुछ किया जाता है उसे 'स्थानी' कहते हैं। यथा—**झरो झरि सवर्णे** (७३) में झर् के स्थान पर लोप विहित होने से 'झर्' स्थानी है; इसी प्रकार **इको यणचि** (१५) आदि में इक् आदि स्थानी हैं।

पर' इत्यादि क्रम से लोप नहीं होता; क्योंकि यदि ऐसा अभीष्ट होता तो आचार्य 'झरो झरि' इतना ही सूत्र बनाते 'सवर्णे' पद का ग्रहण न करते, अतः विदित होता है कि वे सवर्ण झर् मात्र परे होने पर झर् का लोप चाहते हैं। इस का प्रयोजन 'उद् थ् तम्भन' आदि प्रयोगों में थकार आदि का लोप करना है ।

'उद् थ् थान' 'उद् थ् तम्भन' यहां हल् = दकार से परे इस सूत्र द्वारा झर् = प्रथम थकार का विकल्प कर के लोप हो जाता है, क्योंकि इस से परे थकार और तकार क्रमशः सवर्ण झर् विद्यमान हैं। इस प्रकार लोपपक्ष में--उद् + थान, उद् + तम्भन । लोपाभाव में—उद् + थ्थान, उद् + थ्तम्भन । अब इन सब स्थानों पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(७४) खरि च ।८।४।५४।।**

खरि झलां चरः स्युः । इत्युदो दस्य तः । उत्थानम् । उत्तम्भनम् ।।

अर्थः—खर् प्रत्याहार परे होने पर झलों के स्थान पर चर् हो जाता है । **इत्युदो दस्य तः**—इस सूत्र से उद् के दकार को तकार हो जाता है ।

व्याख्या—खरि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । झलाम् ।६।३। (**झलां जश् झशि** से)। चरः ।१।३। (**अभ्यासे चर्च** से वचन-विपरिणाम कर के) । अर्थः—(खरि) खर् प्रत्याहार परे होने पर (झलाम्) झलों के स्थान पर (चरः) चर् हो जाते हैं ।

वर्गों के प्रथम, द्वितीय तथा श्, ष्, स् वर्ण—'खर्' कहाते हैं । वर्गों के प्रथम तथा श्, ष्, स् वर्ण—'चर्' कहाते हैं । वर्गों के पञ्चम वर्णों को छोड़ कर शेष सब वर्गस्थ तथा ऊष्म वर्ण--'झल्' प्रत्याहार के अन्तर्गत हो जाते हैं ।

श्, ष्, स् इन झलों के स्थान पर 'श्, ष्, स्' ही चर् होते हैं । यथा—'निश्चयः, रामश्चिनोति' यहां चकार खर् परे होने पर शकार झल् को शकार चर् ही हुआ है । 'वृष्टिः, दृष्टिः' यहां टकार खर् होने पर षकार झल् को षकार चर् ही हुआ है । 'अस्ति, स्तः, रामस्स्य' यहां खर् परे होने पर सकार झल् को सकार चर् ही हुआ है । झल् प्रत्याहारान्तर्गत हकार से परे कभी खर् नहीं आता; क्योंकि खर् से पूर्व हकार को सदैव **हो ढः** (२५१) द्वारा ढकार हो जाता है ।

प्रश्न—यदि 'श्, ष्, स्' के स्थान पर 'श्, ष्, स्' होते हैं और हकार की जरूरत नहीं; तो झल् की बजाय झय् और चर् की बजाय चय् ही क्यों नहीं कह देते ?

उत्तर—खरि च (७४) सूत्र में झल् और चर् की पीछे से अनुवृत्ति आ रही है, उसी से यहां काम चल जाता है; अब यदि झय् और चय् कहेंगे तो उन का ग्रहण करना पड़ेगा, इस से लाघव की बजाय गौरव-दोष उत्पन्न होगा; अतः इन अनुवर्त्तित झल् और चर् पदों से ही काम चलाने में लाघव है, किञ्च इन के ग्रहण से कोई दोष तो उत्पन्न होता ही नहीं ।

स्थानेऽन्तरतमः (१७) सूत्र द्वारा जिस झल् का जिस चर् के साथ स्थान साम्य होगा, वही उसी के स्थान पर आदेश होगा । तालिका यथा—

झल् (वे वर्ण जिन के स्थान पर आदेश होते हैं।)				साम्य (स्थान)	चर् (आदेश होने वाले वर्ण)
घ् ,	ग् ,	ख् ,	क्	कण्ठ	क्
झ् ,	ज् ,	छ् ,	च्	तालु	च्
ढ् ,	ड् ,	ठ् ,	ट्	मूर्धा	ट्
ध् ,	द् ,	थ् ,	त्	दन्त	त्
भ् ,	ब् ,	फ् ,	प्	ओष्ठ	प्
श्, ष्, स् के स्थान पर पूर्णतया तुल्य क्रमशः श्, ष्, स् आदेश होते हैं।					

भावः—वर्गों के दूसरे, तीसरे तथा चौथे वर्णों को वर्गों के प्रथम वर्ण हो जाते हैं, यदि उन से परे वर्गों के पहले, दूसरे तथा श्, ष्, स्, वर्ण हों तो।

अब इस सूत्र से पूर्वोक्त चारों स्थानों में उद् के दकार को चर्=तकार हो कर निम्नलिखित रूप सिद्ध होते हैं—

(लोपपक्ष में)—उत्थानम्, उत्तम्भनम्। (लोपाभाव में)—उत्थ्थानम्, उत्थ्तम्भनम्। इस प्रकार प्रत्येक के दो-दो रूप सिद्ध होते हैं।

ध्यान रहे कि लोपाभाव वाले रूपों में **उदः स्था०** (८.४.६०) द्वारा किया गया पूर्वसवर्ण=थकार **खरि च** (८.४.५४) की दृष्टि में असिद्ध है अतः उसे सकार ही दीखता है इसलिये उस थकार को तकार आदेश नहीं होता। इस विषय पर शोधपूर्ण विस्तृत विचार हमारे अभिनव प्रकाशित शोधग्रन्थ **न्यास-पर्यालोचन** के पृष्ठ (२९३ से ३००) पर देखें।

अभ्यास (१८)

(१) सूत्र-समन्वय करते हुए सन्धि करें—

१. भेद्+तुम्। २. शिण्ड्+ढि। ३. उद्+स्थापयति। ४. भगवान्+लङ्क्ते। ५. छेद्+तव्यम्। ६. रुन्द्+धः। ७. प्रत्+त्तम्। ८. लिभ्+सा। ९ उद्+स्तम्भते। १०. उद्+स्थितः। ११. बन्द्+धुम्। १२. उद्+स्तम्भितुम्।

(२) सूत्रोपपत्तिपूर्वक सन्धिच्छेद करें—

१. पिण्ढि। २. भिन्तः। ३. धुक्षु। ४. उत्थाय। ५. उत्तम्भिता।

६. युयुत्सवः । ७. अग्निमत्सु । ८. अत्तः । ९. रुन्धः । १०. ऊर्ग्गीयते[1] । ११. अवत्तम् । १२. उत्थातव्यम् । १३. आरिप्सते । १४. निबन्धा [तृच्] । १५. छिन्धि । १६. भिन्धि ।

(३) **झरो झरि सवर्णे** में 'सवर्णे' ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट करें ।

(४) **तोर्लि** सूत्र द्वारा नकार को अनुनासिक लकार ही क्यों होता है ?

(५) खर् परे होने पर श्, ष्, स् के स्थान पर कौन से चर् होंगे ?

(६) निमित्त, स्थानी और आदेश किसे कहते हैं ? सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(७) **आदेः परस्य** और **तस्मादित्युत्तरस्य** परिभाषाओं की व्याख्या करें ।

(८) निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दें—

(क) खर् परे होने पर हकार के स्थान पर क्या होगा ?

(ख) 'उत्थ्थानम्' यहां **खरि च** द्वारा थकार को तकार क्यों नहीं होता?

(ग) 'उद्+प्रस्थानम्' में सन्धि करें ।

——::०::——

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(७५) झयो होऽन्यतरस्याम् ।८।४।६१॥**

झयः परस्य हस्य वा पूर्वसवर्णः । नादस्य घोषस्य संवारस्य महाप्राणस्य हस्य तादृशो वर्गचतुर्थः । वाग्घरिः, वाग्हरिः ॥

अर्थः—झय् से परे हकार के स्थान पर विकल्प कर के पूर्व-सवर्ण हो । **नादस्येति**—नाद, घोष, संवार और महाप्राण यत्न वाले हकार के स्थान पर वैसा वर्गों का चतुर्थ होगा ।

व्याख्या—झयः ।५।१। हः ।६।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। पूर्वस्य ।६।१। (**उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य** से) । सवर्णः ।१।१। (**अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** से) । अर्थः— (झयः) झय् से अव्यवहित पर (हः) 'ह्' के स्थान पर (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में (पूर्वस्य) पूर्व का (सवर्णः) सवर्ण आदेश होता है । भाव— झय् प्रत्याहार में पञ्चम वर्णों को छोड़ कर शेष सब वर्गस्थ वर्ण आ जाते हैं । इन से परे हकार हो तो उस के स्थान पर पूर्व (झय्)का सवर्ण (चतुर्थ) विकल्प से आदेश हो जाता है ।

उदाहरण यथा—

वाग्घरिः (वाणी का शेर अर्थात् बोलने में चतुर) । 'वाक्+हरि' यहां प्रथम **झलां जशोऽन्ते** (६७) से ककार को गकार आदेश हो—वाग्+हरि । अब यहां झय् गकार है, इस से परे हकार के स्थान पर पूर्व अर्थात् गकार का सवर्ण आदेश करना है । गकार के—क्, ख्, ग्, घ्, ङ् ये पाञ्च सवर्ण हैं । इन में से यहां कौन हो? ऐसी शङ्का उत्पन्न होने पर **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) सूत्र उपस्थित हो कर कहता है कि जो हकार के साथ अत्यन्त सदृश हो वही हकार के स्थान पर आदेश किया जाये । अब यदि स्थानकृत आन्तर्य देखते हैं तो हकार के सब सदृश ठहरते हैं, क्योंकि, **अकुह-**

---

१. ऊर्क्+गीयते=ऊर्ग्+गीयते=ऊर्ग्गीयते (बल की प्रशंसा होती है) ।

विसर्जनीयानां कण्ठः के अनुसार हकार और कवर्ग दोनों का कण्ठ स्थान है। **अर्थकृत** तथा प्रमाणकृत आन्तर्य तो यहां हो ही नहीं सकते। अतः अब शेष बचे गुणकृत **आन्तर्य** (अर्थात् यत्नों द्वारा सादृश्य) से ही सदृशता जांचेंगे। आभ्यन्तर यत्न तो इन का हकार के साथ तुल्य हो नहीं सकता। **ईषद्विवृतमूष्मणाम्** के अनुसार हकार ईषद्विवृत तथा **तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम्** के अनुसार कवर्ग स्पृष्ट है। अतः अब बाह्य यत्न देखेंगे। हकार का बाह्ययत्न—संवार, नाद, घोष और महाप्राण है। कवर्ग में इस प्रकार के बाह्ययत्न वाला केवल घकार ही है, इस से हकार के स्थान पर विकल्प कर के घकार हो विभक्ति लाने से पूर्वसवर्णपक्ष में 'वाग्घरिः' और तदभावपक्ष में 'वाग्हरिः' इस प्रकार दो रूप बन जाते हैं। वाचि वाचो वा हरिः (सिंहः)=वाग्घरिः।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

१. तद्+हानि=तद्धानिः। २. अच्+हीन=अज्+हीन=अज्झीनम्। ३. मधुलिड्+हसति=मधुलिड्ढसति। ४. अब्+हस्ती=अब्भस्ती। ५. अज्+ह्रस्व-दीर्घप्लुतः=अज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः। ६. स्याड्+ह्रस्वश्च=स्याड्ढ्रस्वश्च। ७. दिग्+हस्ती=दिग्घस्ती। ८. सम्पद्+हर्ष=सम्पद्धर्षः। ९. रत्नमुड्+हरति=रत्नमुड्-ढरति। १०. वणिग्+हस्ती=वणिग्घस्ती। ११. दूराद्+हूते=दूराद्धूते। १२. मित्त्वाद्+ह्रस्वः=मित्त्वाद्-ध्रस्वः। १३. समुद्+हर्ता=समुद्धर्ता।

इन सब स्थानों पर पूर्वसवर्णभाव-पक्ष में भी प्रयोग जान लेना चाहिये। यहां सर्वत्र हकार के स्थान पर पूर्व अक्षर के वर्ग का चतुर्थ वर्ण ही होता है; क्योंकि आन्तर्यपरीक्षा में वह ही हकार के अत्यन्त सदृश हो सकता है। सार यह है कि झय्-प्रत्याहारान्तर्गत कवर्ग से परे हकार को घकार, चवर्ग से परे हकार को झकार, टवर्ग से परे हकार को ढकार, तवर्ग से परे हकार को धकार तथा पवर्ग से परे हकार को भकार विकल्प से होता है। पक्ष में हकार भी रहता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७६) **शश्छोऽटि** ।८।४।६२॥

झयः परस्य शस्य छो वाऽटि। 'तद्+शिव' इत्यत्र दस्य श्चुत्वेन जकारे कृते 'खरि च' (७४) इति जकारस्य चकारः। तच्छिवः, तच्शिवः॥

अर्थः—झय् से परे शकार को विकल्प से छकार हो जाता है, अट् परे हो तो।

व्याख्या—झयः ।५।१। (**झयो होऽन्यतरस्याम्** से)। शः ।६।१। छः ।६।१। छकारादकार उच्चारणार्थः। अन्यतरस्याम् ।७।१। (**झयो होऽन्यतरस्याम्** से)। अटि ।७।१। अर्थः—(झयः) झय् से परे (शः) 'श्' के स्थान पर (छः) छ् हो जाता है (अटि) अट् परे होने पर (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में अर्थात् विकल्प से।

यह सूत्र **स्तोः श्चुना श्चुः** (८.४.३९) और **खरि च** (८.४.५४) दोनों की दृष्टि में असिद्ध है। इन दोनों में भी **स्तोः श्चुना श्चुः** (८.४.३९) की दृष्टि में **खरि च** (८.४.५४) असिद्ध है; अतः सब से प्रथम **स्तोः श्चुना श्चुः** (६२) फिर **खरि च** (७४) और तदनन्तर **शश्छोऽटि** (७६) सूत्र प्रवृत्त होगा। उदाहरण यथा—

तद्+शिव=तज्+शिव (**स्तोः श्चुना श्चुः**)=तच् शिव (**खरि च**)। अब यहां झय् चकार है इस से परे शकार वर्तमान है और उस शकार से भी इकार=अट् परे है; अतः प्रकृत सूत्र से शकार को वैकल्पिक छत्व हो कर विभक्ति लाने से छत्व-पक्ष में 'तच्छिवः' और छत्वाभाव-पक्ष में 'तच्शिवः' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। तस्य शिव इति, स चासौ शिव इति वा विग्रहः। इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा —

१. मधुलिट्+शेते=मधुलिट् छेते। २. वाक्+शेते=वाक् छेते। ३. मत्+श्वशुर=मच्+श्वशुर=मच्छ्वशुरः। ४. यावत्+शक्यम्=यावच्+शक्यम्=यावच्छक्यम्। ५. जगत्+शान्ति=जगच्+शान्ति=जगच्छान्तिः। ६. तद्+श्रुत्वा=तज्+श्रुत्वा=तच्+श्रुत्वा=तच्छ्रुत्वा। ७. कश्चित्+शेते=कश्चिच्+शेते=कश्चिच्छेते। ८. प्राक्+शेते=प्राक्छेते।

नोट—यहां वा पदान्तस्य (८.४.५८) सूत्र से 'पदान्तस्य' पद का भी अनुवर्तन होता है। विभक्तिविपरिणाम से वह पञ्चम्यन्त हो कर 'झयः' का विशेषण बन जाता है। इस से यह अर्थ हो जाता है—पदान्त झय् से परे शकार को छकार हो विकल्प कर के अट् परे हो तो। 'पदान्त' पद लाने का यह प्रयोजन है कि—'विरप्शम्, चक्शौ' आदियों में अपदान्त पकार-ककारादियों से परे शकार को छकार न हो जाये।

[लघु०] वा०—(१२) छत्वममीति वाच्यम् ॥

तच्छ्लोकेन ॥

अर्थः—पदान्त झय् से परे शकार को वैकल्पिक छकारादेश—अट् परे की बजाय अम् परे होने पर कहना चाहिये।

व्याख्या—पूर्वोक्त **शश्छोऽटि** (७६) सूत्र से 'तच्छ्लोकेन, तच्छ्मश्रुणा' आदि प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकते क्योंकि इन में शकार से परे लकार है, जो अट् प्रत्याहार में नहीं आता। अतः इन की सिद्धि के लिये कात्यायन ने यह वार्त्तिक रचा है (छत्वम् ।१।१।) छत्व (अमि ।७।१।) अम् प्रत्याहार परे होने पर हो (इति) ऐसा (वाच्यम्) कहना चाहिये। कात्यायन का पाणिनि के **शश्छोऽटि** (७६) सूत्र के अन्य किसी अंश से मतभेद नहीं, केवल 'अटि' अंश से ही मतभेद है। वे चाहते हैं कि 'अटि' को हटा कर इस के स्थान पर 'अमि' कर देना चाहिये। ऐसा करने से 'तच्छ्लोकेन' आदि रूप सिद्ध हो जाते हैं। तथाहि—

तद्+श्लोक=तज्+श्लोक (**स्तोः श्चुना श्चुः**)=तच्+श्लोक (**खरि च**)। अब यहां झय्=चकार से शकार परे विद्यमान है। इस से 'ल्' यह अम् परे है। अतः विकल्प कर के शकार को छकार हो कर विभक्ति लाने से छत्वपक्ष में 'तच्छ्लोकेन' और छत्वाभाव में 'तच्श्लोकेन' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। [स चासौ श्लोकः-तच्छ्लोकः, यद्वा तस्य श्लोकः—तच्छ्लोकः, तेन=तच्छ्लोकेन। कर्मधारयः षष्ठीतत्पुरुषो वा। उस श्लोक से या उस के श्लोक से]।

इस वार्त्तिक के कुछ अन्य उदाहरण यथा—(१) एतद्+श्मश्रु=एतच्छ्मश्रु, एतच्श्मश्रु। (२) तद्+श्लक्ष्ण=तच्छ्लक्ष्णः, तच्श्लक्ष्णः। (३) तद्+श्मशानम्=

तच्छ्मशानम्, तच्श्मशानम् । (४) तद्+श्लिष्ट=तच्छ्लिष्टः, तच्श्लिष्टः । (५) भूभृत्+श्लाघा=भूभृच्छ्लाघा, भूभृच्श्लाघा । (६) सकृत्+श्लेष्मा=सकृच्छ्लेष्मा, सकृच्श्लेष्मा ।

नोट—कात्यायनद्वारा **शश्छोऽटि** सूत्र में 'अटि' की जगह 'अमि' रखने का सुझाव कोई अपूर्वकथन नहीं है । आचार्यवर पाणिनि ने **गोत्रचरणाच्छ्लाघात्याकार-तदवेतेषु** (५.१.१३३) सूत्र में 'चरणात्+श्लाघा=चरणाच्छ्लाघा' लिखकर स्वयम् अम्परक शकार को छत्व किया है । ध्यान रहे कि आचार्यचरण सब बातें मुख द्वारा प्रतिपादन नहीं किया करते । उन की कई बातें इङ्गित आदि के द्वारा भी प्रकट होती हैं । अतएव भाष्यकार पतञ्जलि कहते हैं—**इह इङ्गितेन चेष्टितेन निमिषितेन महता वा सूत्रप्रबन्धेनाचार्याणाम् अभिप्रायो गम्यते** (महाभाष्य ६.३.३७) ।

अभ्यास (१९)

(१) हकार को पूर्वसवर्ण वर्गचतुर्थ ही क्यों होता है, अन्य क्यों नहीं ?
(२) कात्यायन **शश्छोऽटि** सूत्र को **शश्छोऽमि** क्यों बनाना चाहते हैं ?
(३) विरप्शम्, चक्शौ, तच्श्चुत्वम्—में छत्व क्यों नहीं होता ?
(४) भवान् हसति, प्राङ् हसति—में हकार को पूर्वसवर्ण क्यों नहीं होता ?
(५) श्चुत्व, चर्त्व और छत्व में कौन प्रथम और कौन पश्चात् होगा ?

——::o::——

[लघु०] विधि-सूत्रम्-(७७) **मोऽनुस्वारः** ।८।३।२३।।

मान्तस्य पदस्यानुस्वारो हलि । हरिं वन्दे ।।

अर्थः—हल् परे हो तो मकारान्त पद के स्थान पर अनुस्वार हो ।

व्याख्या—मः ।६।१। पदस्य ।६।१। (यह अधिकार पीछे से आ रहा है) । अनुस्वारः ।१।१। हलि ।७।१। (**हलि सर्वेषाम्** से) । 'मः' यह 'पदस्य' का विशेषण है अतः इस से **येन विधिस्तदन्तस्य** (१.१.७१) द्वारा तदन्तविधि हो कर 'मान्तस्य पदस्य' ऐसा बन जाता है । अर्थः—(हलि) हल् परे होने पर (मः=मान्तस्य) मकारान्त (पदस्य) पद के स्थान पर (अनुस्वारः) अनुस्वार होता है । **अलोऽन्त्यस्य** (२१) द्वारा मकारान्त पद के अन्त्य अल्=मकार को ही अनुस्वार होगा । उदाहरण यथा—

हरिं वन्दे (मैं हरि को नमस्कार करता हूं) । 'हरिम्+वन्दे' यहां मकारान्त पद 'हरिम्' है; सुँबन्त होने से **सुप्तिङन्तं पदम्** (१४) द्वारा इस की पद सञ्ज्ञा है । इस से परे 'व्' यह हल् विद्यमान है अतः मकारान्त पद के अन्त्य अल्=मकार को अनुस्वार आदेश हो कर 'हरिं वन्दे' प्रयोग सिद्ध होता है ।[1]

इसके अन्य उदाहरण यथा—मातरम्+वन्दे=मातरं वन्दे, पुस्तकम्+पठति =पुस्तकं पठति, गुरुम्+नमति=गुरुं नमति, शत्रुम्+जयति=शत्रुं जयति । इत्यादि ।

१· कई लोग 'हरिम्वन्दे, सम्वृत्तः' इत्यादि लिखते हैं, सो ठीक नहीं; अनुस्वार आवश्यक है । हां परसवर्ण वैकल्पिक है—हरिव्ँ वन्दे, हरिं वन्दे ।

'हल् परे होने पर' इस लिये कहा है कि गृहम्+आगच्छति=गृहमागच्छति, यम्+ऋषिम्=यमृषिम्, तम्+लृकारम्=तम्लृकारम् इत्यादि स्थानों पर अच् परे रहते अथवा अवसान में अनुस्वार न हो।

पद ग्रहण का यह प्रयोजन है कि—'गम्यते, नम्यते' इत्यादि स्थानों पर हल् परे रहते हुए भी अपदान्त मकार को अनुस्वार न हो।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(७८) नश्चाऽपदान्तस्य झलि।८।३।२४॥**

नस्य मस्य चापदान्तस्य झल्यनुस्वारः। यशांसि। आक्रंस्यते। झलि किम्? मन्यसे॥

अर्थः—झल् परे होने पर अपदान्त नकार मकार को अनुस्वार हो जाता है।

व्याख्या—नः।६।१। च इत्यव्ययपदम्। अपदान्तस्य।६।१। झलि।७।१। मः।६।१। अनुस्वारः।१।१। (**मोऽनुस्वारः** से)। अन्वयः—अपदान्तस्य नः मः च झलि अनुस्वारः। अर्थः—(झलि) झल् परे होने पर (अपदान्तस्य) अपदान्त (नः) नकार (च) और (मः) मकार के स्थान पर (अनुस्वारः) अनुस्वार हो जाता है।

उदाहरण यथा—

यशांसि (बहुत यश)। 'यशान्+सि' ['यशस्'शब्दाज्जसि **जश्शसोः शिः** (२३७) इति शावादेशे **शि सर्वनामस्थानम्** (२३८) इति तस्य सर्वनामस्थानतायां **नपुंसकस्य झलचः** (२३९) इति नुँमागमे **सान्तमहतः संयोगस्य** (३४२) इति सान्त-संयोगस्योपधाया दीर्घे च कृते—'यशान् सि' इति निष्पद्यते।] यहां सकार झल् परे होने से अपदान्त नकार को अनुस्वार करने से 'यशांसि' प्रयोग सिद्ध होता है।

आक्रंस्यते (ऊपर जाएगा)। 'आक्रम्+स्यते' [आङ्पूर्वात् **क्रमुँ पादविक्षेपे** (भ्वा०) इति धातोः कर्तरि लृँटि **आङ उद्गमने** (१.३.४०) इत्यात्मनेपदम्।] यहां अपदान्त मकार को पूर्वसूत्र (७७) से अनुस्वार प्राप्त नहीं हो सकता था; अब इस सूत्र से सकार झल् परे होने से उसे अनुस्वार हो कर 'आक्रंस्यते' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इस सूत्र में 'झलि' का ग्रहण इस लिये किया गया है कि—'गम्+यसे=गम्यसे, मन्+यसे=मन्यसे, हन्+यसे=हन्यसे' इत्यादि स्थानों में झल् परे न होने के कारण अनुस्वार न हो जाये। 'अपदान्तस्य' ग्रहण करने से 'राजन्पाहि, ब्रह्मन्पाहि' इत्यादियों में पदान्त नकार को अनुस्वार नहीं होता।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—१. पयान्+सि=पयांसि। २. आयम्+स्यते=आयंस्यते। ३. अनम्+सीत्=अनंसीत्। ४. नम्+स्यति=नंस्यति। ५. श्रेयान्+सि=श्रेयांसि। ६. हन्+सि=हंसि।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(७९) अनुस्वारस्य ययि पर-सवर्णः।८।४।५७॥**

स्पष्टम्। शान्तः॥

अर्थः—यय् परे होने पर अनुस्वार को पर-सवर्ण होता है।

व्याख्या—अनुस्वारस्य ।६।१। ययि ।७।१। पर-सवर्णः ।१।१। समासः—परस्य सवर्णः=परसवर्णः, षष्ठीतत्पुरुषसमासः । अथवा पर इति लुप्तषष्ठीकं पृथक् पदम्, सवर्ण इति तु स्वरितत्वादधिकृतम् । अर्थः—(ययि) यय् परे होने पर (अनुस्वारस्य) अनुस्वार के स्थान पर (पर-सवर्णः) पर-सवर्ण आदेश होता है । भाव—सब वर्गस्थ वर्ण तथा अन्तःस्थ वर्ण यय् प्रत्याहार के अन्दर आ जाते हैं; इन के परे होने पर अनुस्वार को पर अर्थात् यय् का सवर्ण आदेश हो जाता है । उदाहरण यथा—

शान्तः (शान्त वा नष्ट) । 'शाम्+त' [**शमुँ उपशमे** (दिवा०), क्तः, **वा दान्तशान्ते**त्यादिनिपातनान्नेट्, **अनुनासिकस्य क्वि**इति दीर्घः ।] यहां **नश्चापदान्तस्य झलि** (७८) सूत्र से अपदान्त मकार को अनुस्वार हो 'शांत' ऐसा बना; अब इस सूत्र से तकार यय् परे होने पर अनुस्वार को पर-सवर्ण करना है । तकार के सवर्ण—'त्, थ्, द्, ध्, न्' ये पाञ्च वर्ण हैं । इन में नासिकास्थान के सादृश्य के कारण अनुस्वार के सदृश वर्गपञ्चम नकार है, अतः अनुस्वार को नकार हो कर विभक्ति लाने से 'शान्तः' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार प्रत्येक वर्ग का पञ्चम ही अनुस्वार को परसवर्ण होगा ।

इस के कुछ अन्य उदाहरण यथा—१. अन्+कित=अंकित=अङ्कितः । २. अन्+चित=अंचित=अञ्चितः । ३. कुन्+ठित=कुंठित=कुण्ठितः । ४. दाम्+त=दांत=दान्तः । ५. गुम्+फित=गुंफित=गुम्फितः । ६. भुन्+क्ते =भुं+क्ते=भुङ्क्ते । ७. गम्+ता=गं+ता=गन्ता । इत्यादि ।

यहां 'यय्' ग्रहण स्पष्टार्थ है । यय् ग्रहण न करने से भी कोई दोष नहीं आ सकता । तथाहि—आक्रंस्यते, दंशनम्, अंह्रिपः इत्यादि प्रयोगों में **रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति** इस वचन के कारण परसवर्ण नहीं होगा तथा अचों के परे होने पर तो अनुस्वार ही नहीं मिल सकेगा ।

इस सूत्र का 'य्, व्, र्, ल्' के परे होने पर यद्यपि कोई उदाहरण नहीं तथापि अग्रिम **वा पदान्तस्य** (८०) सूत्र में इन का उपयोग दिखाया जायेगा ।

नोट—ग्रन्थकार ने इस सूत्र की वृत्ति [जो सूत्र पर संस्कृत में उसका अर्थ लिखा होता है उसे 'वृत्ति' कहते हैं] नहीं लिखी; केवल 'स्पष्टम्' लिखा है । इसका आशय यह है कि इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट है अर्थात् इस सूत्र में अन्य किसी सूत्र के पद की अनुवृत्ति नहीं आती । यह सूत्र ही अपनी आप वृत्ति है । एवमन्यत्र भी समझ लेना चाहिये ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८०) **वा पदान्तस्य** ।८।४।५८।।

(पदान्तस्यानुस्वारस्य ययि परे परसवर्णो वा स्यात्) । त्वङ्करोषि, त्वं करोषि ।।

अर्थः—यय् परे हो तो पदान्त अनुस्वार को विकल्प कर के परसवर्ण हो ।

व्याख्या—वा इत्यव्ययपदम् । पदान्तस्य ।६।१। अनुस्वारस्य ।६।१। ययि ।७।१। परसवर्णः ।१।१। (**अनुस्वारस्य यथि परसवर्णः** से)। अर्थः—(यथि) यय् परे होने पर

(पदान्तस्य) पदान्त (अनुस्वारस्य) अनुस्वार के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (पर-सवर्णः) परसवर्ण आदेश होता है। यह सूत्र पूर्वसूत्र का अपवाद है; अतः पूर्व-सूत्र अपदान्त अनुस्वार को और यह पदान्त अनुस्वार को यय् परे होने पर परसवर्ण करेगा। उदाहरण यथा—

त्वङ्करोषि, त्वं करोषि (तू करता है)। 'त्वम्+करोषि' यहां 'त्वम्' इस पद के अन्त्य मकार को **मोऽनुस्वारः** (७७) सूत्र से अनुस्वार हो कर 'त्वं+करोषि' बना। अब इस सूत्र से पदान्त अनुस्वार को पर=ककार का सवर्ण ङकार करने से—त्वङ् करोषि। परसवर्णाभावपक्ष में—त्वं करोषि। [पर=ककार के 'क्, ख्, ग्, घ्, ङ्' ये पाञ्च सवर्ण हैं, स्थानकृत आन्तर्य में ककार का सवर्ण ङकार ही होगा।]। इसी प्रकार—

तङ् कथञ् चित्रपक्षण् डयमानन् नभस्थम् पुरुषोऽवधीत् [परसवर्णपक्षे]।
तं कथं चित्रपक्षं डयमानं नभस्थं पुरुषोऽवधीत् [परसवर्णाभावे]।

'य्, व्, ल्' वर्ण सानुनासिक और निरनुनासिक भेद से दो प्रकार के होते हैं; यह हम पीछे सञ्ज्ञा-प्रकरण में बता चुके हैं। 'य्, व्, ल्' के परे होने पर अनुस्वार के स्थान पर स्थानी अनुस्वार के अनुनासिक होने से **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) द्वारा सानुनासिक यँ, वँ, लँ ही होंगे। यथा—१. सम्+वत्सरः=सं+वत्सरः=सवँवत्सरः। २. दानम्+यच्छति=दानं+यच्छति=दानयँयच्छति। ३. अहम्+लिखामि=अहं+लिखामि=अहलँ लिखामि। रेफ के परे रहते पदान्त अनुस्वार को परसवर्ण नहीं होता क्योंकि रेफ का कोई सवर्ण नहीं—कुलं रोदिति।

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि **मोऽनुस्वारः** (७७) से विहित अनुस्वार यद्यपि सामान्यतः प्रकृतसूत्र से वैकल्पिक परसवर्ण को प्राप्त होता है तथापि र्, श्, ष्, स्, ह् के परे होने पर वह परसवर्ण को प्राप्त नहीं होता अनुस्वार अनुस्वार ही रहता है। यथा—कुलं रोदिति। शिशुं शाययति। तं षट्पदम्पश्य। मित्रं सान्त्वयति। शत्रुं हन्ति। कारण—**रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति**, किञ्च श्, ष्, स्, ह् यय्प्रत्याहार में भी नहीं आते।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८१) मो राजि समः क्वौ।८।३।२५॥**

क्विँबन्ते राजतौ परे समो मस्य म एव स्यात्। सम्राट्॥

अर्थः—क्विँबन्त राज् धातु परे हो तो सम् के मकार को मकार ही हो।

व्याख्या—समः।६।१। मः।६।१। (**मोऽनुस्वारः** से)। मः।१।१। मकारादकार उच्चारणार्थः। क्वौ।७।१। राजि।७।१। क्विँ(प्)यह प्रत्यय है। **प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्**—इस परिभाषा के अनुसार व्याकरण में जहां २ प्रत्यय का ग्रहण होता है वहां २ तदन्त अर्थात् वह प्रत्यय जिस के अन्त में होता है ऐसे शब्दसमूह (प्रकृति+प्रत्यय)का ग्रहण किया जाता है। इस नियम के अनुसार क्विँप् से तदन्त-विधि हो कर 'क्विँबन्त' बन जायेगा। अर्थः—(क्वौ) क्विँबन्त (राजि) राज् धातु परे हो तो (समः) सम् के (मः) मकार के स्थान पर (मः) मकार आदेश होता है।

'सम्' यह अव्यय होने के कारण सुंबन्त होने से पद-सञ्ज्ञक है। इस के मकार को क्विँबन्त 'राज्' धातु परे होने पर **मोऽनुस्वारः** (७७) से अनुस्वार प्राप्त था। इस सूत्र से सम् के मकार को मकार किया गया है; इसका अभिप्राय यह है कि मकार, मकार ही बना रहे अनुस्वार न हो जाये। उदाहरण यथा—

सम्+राट् [चक्रवर्ती राजा। **राजृँ दीप्तौ** (भ्वा०) इत्यस्मात् **सत्सूद्विष०** इति क्विँपि, क्विँब्लोपे, सावागते **हल्ङ्याब्भ्यः**—इति सोर्लोपे, पदान्ते **व्रश्चभ्रस्ज०** इति षत्वे, डत्वे, अवसाने चर्त्वे च कृते 'राट्' इति सिध्यति।] यहां रेफ-हल् के परे रहते मकार को **मोऽनुस्वारः** (७७) सूत्र के अनुस्वार प्राप्त था जो अब प्रकृतसूत्र से नहीं होता, इस तरह 'सम्राट्' पद सिद्ध होता है। इसी प्रकार—सम्राजौ, सम्राजः, सम्राजम्, सम्राजा। सम्राजो भावः—साम्राज्यम्।

क्विँबन्त कहने से 'सम्+राजते=संराजते' में अनुस्वार हो जाता है।

नोट—'सम्राज्ञी' शब्द वेद में देखा जाता है (**सम्राज्ञी श्वशुरे भव**—ऋ० १०.४६) परन्तु लोक में यह शब्द चिन्तनीय है; 'राज्ञी' की सिद्धि कर के 'सम्' से योग होने पर क्विँबन्त न होने से 'म्' नहीं हो सकता। अथवा 'सम्राज्' शब्द से भी ङीप् नहीं हो सकता। तब स्त्रीलिङ्ग में भी 'सम्राट्' ही रहेगा।

[लघु०] विधि-सूत्रम् **(८२) हे मपरे वा ।८।३।२६॥**

मपरे हकारे मस्य मो वा। किम्ह्मलयति, किं ह्मलयति॥

अर्थः—जिस हकार से परे मकार हो, उस हकार के परे होने पर मकार के स्थान पर विकल्प कर के मकार होता है।

व्याख्या—मपरे।७।१। हे।७।१। मः।६।१। (**मोऽनुस्वारः** से)। मः।१।१। (**मो राजि समः क्वौ** से)। वा इत्यव्ययपदम्। समासः—मः परो यस्मादसौ मपरस्तस्मिन्=मपरे। बहुव्रीहि-समासः। अर्थः—(मपरे) मकार परे वाले (हे) हकार के परे होने पर (मः) मकार के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (मः) मकार आदेश हो जाता है। यह सूत्र **मोऽनुस्वारः** (७७) का वैकल्पिक अपवाद है।

उदाहरण यथा—'किम्+ह्मलयति' [क्या चलाता वा हिलाता है? **ह्मल चलने** (भ्वा०) हेतुमण्णौ मित्त्वाद् ह्रस्वः] यहां मकार परे वाला हकार परे है अतः मकार को मकार अर्थात् अनुस्वाराभाव हो—किम्ह्मलयति। पक्ष में **मोऽनुस्वारः** (७७) से अनुस्वार हो—किं ह्मलयति। इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं। इसी तरह—कथम्ह्मलयति, कथं ह्मलयति इत्यादि रूप होते हैं।

[लघु०] वा०—**(१३) यवलपरे यवला वा॥**

कियँ ह्यः, किं ह्यः। किवँ ह्वलयति, किं ह्वलयति। किलँ ह्लादयति, किं ह्लादयति॥

अर्थः—यकार, वकार, अथवा लकार परे वाला हकार परे हो तो मकार के स्थान पर क्रमशः विकल्प कर के यकार, वकार तथा लकार हो जाते हैं।

व्याख्या—यवलपरे ।७।१। हे ।७।१। (**हे मपरे वा** से) । मः ।६।१। (**मोऽनु-स्वारः** से)। यवलाः ।१।३। वा इत्यव्ययपदम् । समासः—यश्च वश्च लश्च=य-व-लाः, इतरेतरद्वन्द्वः । एष्वकार उच्चारणार्थः । यवलाः परा यस्मादसौ यवलपरस्तस्मिन्= यवलपरे । बहुव्रीहि-समासः । अर्थः—(यवलपरे) य्, व्, ल्, परे वाले (हे)हकार के परे होने पर (मः) म् के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (यवलाः) यकार, वकार, लकार हो जाते । यह वार्त्तिक **मोऽनुस्वारः** (७७) का वैकल्पिक अपवाद है । जिस पक्ष में 'य्, व्, ल्' नहीं होंगे उस पक्ष में **मोऽनुस्वारः**(७७) से अनुस्वार हो जायेगा । यहां **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्**(२३)से आदेश और निमित्तों को क्रमशः समझ लेना चाहिये । अर्थात् यकार परे वाला हकार परे होगा तो मकार को यकार, वकार परे वाला हकार परे होगा तो मकार को वकार तथा लकार परे वाला हकार परे होगा तो मकार को लकार आदेश होगा । उदाहरण यथा—

'किम्+ह्यः' (कल क्या था ?) यहां यकार परे वाला हकार परे है अतः मकार को विकल्प कर के यकार होगा । अनुनासिक और अननुनासिक भेद से यकार दो प्रकार का होता है । यहां **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) से अनुनासिक मकार को वैसा ही अनुनासिक यकार हो कर—कियँ ह्यः । पक्ष में **मोऽनुस्वारः** (७७) से अनुस्वार हो कर 'किं ह्यः' इस प्रकार दो रूप सिद्ध हुए ।

'किम्+ह्वलयति' [क्या हिलाता है ? **ह्वल चलने** (भ्वा०) हेतुमण्णौ मित्त्वाद् ह्रस्वः] यहां वकार परे वाला हकार परे है अतः मकार को विकल्प कर के अनुनासिक वकार होकर—किवँ ह्वलयति । पक्ष में **मोऽनुस्वारः** (७७) से अनुस्वार हो कर—'किं ह्वलयति' इस प्रकार दो रूप सिद्ध हुए ।

'किम्+ह्लादयति' (कौन वस्तु प्रसन्न करती है ?) यहां लकार परे वाला हकार परे है । अतः मकार को विकल्प कर के अनुनासिक लकार हो कर—किलँ ह्लादयति । पक्ष में **मोऽनुस्वारः** (७७) से अनुस्वार हो कर—'किं ह्लादयति' ये दो रूप सिद्ध होते हैं ।

इसी प्रकार १. मित्रलँ ह्लादते, मित्रं ह्लादते । २. इदयँ ह्यस्तनम्, इदं ह्यस्तनम् । ३. किवँ ह्वयतु, किं ह्वयतु । इत्यादि ।

नोट—सर्वत्र कौमुदीग्रन्थों में यहां मकार के स्थान पर अनुनासिक 'यँ, वँ, लँ' ही मुद्रित प्राप्त होते हैं । टीकाकारों का कथन है कि 'य्, व्, ल्' अनुनासिक और निरनुनासिक भेद से दो प्रकार के होते हैं । यहां अनुनासिक मकार के स्थान पर दोनों के प्राप्त होने पर **स्थानेऽन्तरतमः**(१७) से अनुनासिक यकार वकार लकार ही होते हैं । परन्तु शेखरकार नागेशभट्ट ने इस मत का खण्डन किया है । उन का कथन है कि 'य्, व्, ल्' यहां विधान किये गये हैं । विधीयमान अण् अपने सवर्णियों के ग्राहक नहीं होते [देखो—**अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः** (११)] । अतः यहां अनु-नासिक 'य्, व्, ल्' नहीं हो सकेंगे किन्तु जैसे विधान किये गये हैं वैसे निरनुनासिक

ही होंगे। यथा—'मतुँप्' के अनुनासिक मकार के स्थान पर **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** (१०६५) से अनुनासिक वकार नहीं होता किन्तु निरनुनासिक वकार ही होता है वैसे यहां पर भी करना चाहिये। **अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** (११६), **संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः** (८१७) इत्यादि सूत्रों के 'अर्थवत्' 'यण्वतः' आदि शब्दों में आचार्य पाणिनि ने स्वयं भी मतुँप् के अनुनासिक मकार के स्थान पर अनुनासिक वकार नहीं किया इस से भी यही सिद्ध होता है कि आचार्य विधीयमान अण् के सवर्णग्रहण के पक्ष में नहीं हैं। कौमुदीपक्ष के समर्थकों का कथन है कि **ऋत उत्** (२०८) में 'उ' विधीयमान है वह अपने सवर्णियों का ग्रहण नहीं करा सकता, तो पुनः इसे क्यों मुनि ने तपर किया है? अतः इस से प्रतीत होता है कि विधीयमान भी अण् कहीं-कहीं अपने सवर्णियों का ग्रहण कराते हैं। इस विषय का विस्तृत विचार हमारे नवीन मुद्रित शोधग्रन्थ **न्यास-पर्यालोचन** में पृष्ठ (२६०) पर देखें।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८३) नपरे नः ।८।३।२७।।**

नपरे हकारे (परे) मस्य नो वा। किन्ह्नुते किं ह्नुते।।

अर्थः—नकार परे वाला हकार परे हो तो मकार के स्थान पर विकल्प कर के नकार हो जाता है

व्याख्या—नपरे ।७।१। हे ।७।१ (**हे मपरे वा** से)। मः ।६।१। (**मोऽनुस्वारः** से)। नः ।१।१। (नकारादकार उच्चारणार्थः)। वा इत्यव्ययपदम् (**हे मपरे वा** से)। समासः—नः परो यस्मात् स नपरस्तस्मिन्=नपरे। बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(नपरे)नकार परे वाला (हे) हकार परे हो तो (मः) म् के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (नः) न् आदेश हो जाता है। यह सूत्र भी **मोऽनुस्वारः** (७७) का वैकल्पिक अपवाद है। पक्ष में **मोऽनुस्वारः** (७७) से अनुस्वार आदेश होगा। उदाहरण यथा—

'किम्+ह्नुते' (क्या छिपाता है?) यहां नकार परे वाला हकार परे है अतः प्रकृतसूत्र (८३) से मकार को वैकल्पिक नकार होकर—किन्ह्नुते। पक्ष में **मोऽनुस्वारः** (७७) से अनुस्वार हो कर 'किं ह्नुते' इस प्रकार दो रूप सिद्ध हुए।

इसी प्रकार—१. कथन्ह्नुते, कथं ह्नुते। २. यन्ह्नुते, यं ह्नुते। ३. तन् ह्नोतुम्, तं ह्नोतुम्। **ह्नुङ् अपनयने** (अदा०) के सिवाय अन्य धातु के उदाहरण यहां दुर्लभ हैं।

अभ्यास (२०)

(१) निम्नलिखित रूपों में सूत्रसमन्वयपूर्वक सन्धिच्छेद करें—

१. तपांसि। २. भूमिङ् खनति। ३. आम्रञ् चूषति। ४. फलन् ह्नुते। ५. पुलँ्लिङ्गम्। ६. ऊर्ध्वण्डयते। ७. विद्वांसः। ८. तलँ् लिखामि। ९. निष्फलवँ् वित्तम्। १०. नदीन्तरति। ११. कथयँ् ह्यः। १२. सत्यं शिवं सुन्दरम्। १३. धनयँ् यच्छति। १४. कान्तः। १५. साम्राज्यम्। १६. त्वलँ् लोमशः। १७. रामं रमेशम् भजे। १८. सर्वम्बल-

वताम्पथ्यम् । १९. त्ववँ वक्ता । २०. पण्डितः । २१. अहङ्कारः । २२. अहवँ वसामि । २३. कुललँ ह्लादते । २४. इत्थम् ह्मलयति ।

(२) **मा गृधः कस्यस्विद्धनम्** यहां अन्त्य मकार को अनुस्वार क्यों नहीं होता? अपदान्त (?) है तो **नश्चापदान्तस्य झलि** से हो जाये ।

(३) एवं लृकारोऽपि, ओं, पुस्तकं—क्या ये शुद्ध हैं ? सप्रमाण लिखें ।

(४) 'राजन् + पाहि' यहां नकार को अनुस्वार क्यों न हो ?

(५) 'तन्यते' यहां **नश्चापदान्तस्य झलि** सूत्र क्यों प्रवृत्त नहीं होता ?

(६) **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** यहां 'पर' पद को पृथक् क्यों मानते हैं ?

(७) 'सम्राज्ञी' शब्द क्या अशुद्ध है ?

(८) 'कियँ ह्यः' में अनुनासिक यँ करना कहां तक शुद्ध है ? टिप्पण करें ।

(९) 'नपरे, मपरे, यवलपरे' पदों में समास बता कर उस का विग्रह लिखें ।

(१०) 'कुलं रोदिति' यहां अनुस्वार को परसवर्ण क्यों नहीं होता ?

———::०::——

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८४) डः सि धुँट् ।८।३।२९॥**

डात् परस्य सस्य धुँड् वा ॥

अर्थः—डकार से परे सकार का अवयव धुँट् हो जाता है विकल्प से ।

व्याख्या—डः ।५।१। सि ।७।१। धुँट् ।१।१। वा इत्यव्ययपदम् (**हे मपरे वा** से) । 'डः' यह पञ्चम्यन्त है । **तस्मादित्युत्तरस्य** (७१) के अनुसार डकार से अव्यवहित पर का अवयव 'धुँट्' होना चाहिये । 'सि' यह सप्तम्यन्त पद है । **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** (१६) के अनुसार सकार से अव्यवहित पूर्व का अवयव 'धुँट्' होना चाहिये । अब 'धुँट् किस का अवयव हो ? यह शङ्का उत्पन्न होती है । इस का समाधान यह है—**उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्** अर्थात् जहां पञ्चमी और सप्तमी दोनों से निर्देश किया गया हो वहां पञ्चमी का निर्देश ही बलवान् होता है । इस नियम के अनुसार 'डः' यहां पञ्चमी का निर्देश ही बलवान् हुआ । अतः डकार से अव्यवहित पर=सकार को ही धुँट् का आगम[1] होगा । एवं 'सि' को 'सः' इस षष्ठ्यन्त-

---

१. व्याकरण-प्रक्रिया में जब किसी के साथ कुछ अंश जोड़ा जाता है तो उस जुड़ने वाले अंश को आगम कहते हैं । आगम मित्र की तरह होते हैं जैसे मित्र घर में आकर गृहपति के मेहमान बन उस के समीप बैठते हैं वैसे आगमों की स्थिति होती है । अत एव कहा है—**मित्रवदागमा भवन्ति** । जिसे आगम होता है उसे प्रायः षष्ठ्यन्ततया प्रस्तुत किया जाता है । जैसे —**आर्धधातुकस्येड् वलादेः**(४०१), **इदितो नुँम् धातोः** (४६३), **ङ्णोः कुँक्टुँक् शरि** (८६) आदि । परन्तु जब पञ्चमी और सप्तमी दोनों विभक्तियों से निर्देश होता है तब पञ्चम्यन्त निर्देश के बलवान् होने से सप्तम्यन्त पद को षष्ठ्यन्त के रूप में परिणत होना पड़ता है और तब आगम उसी का ही अवयव माना जाता है जैसा कि इस प्रकृतसूत्र में

रूप में परिणत किया जायेगा। अर्थः—(ङः) ङकार से परे (वा) विकल्प कर के (सि=सः) सकार का अवयव (धुँट्) धुँट् हो जाता है। उदाहरण यथा—

षड्+सन्तः (छः सज्जन)। यहां **खरि च** (८.४.५४) के असिद्ध होने से प्रथम इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। यहां ङकार से परे 'सन्तः' पद का आदि सकार विद्यमान है, अतः उस सकार का अवयव 'धुँट्' यह शब्द-समुदाय विकल्प से होगा। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या 'धुँट्' सकार का आद्यवयव हो या अन्तावयव? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये अग्रिम परिभाषा-सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—**(८५) आद्यन्तौ टकितौ ।१।१।४५।।**

टित्कितौ यस्योक्तौ तस्य क्रमादाद्यन्तावयवौ स्तः। षट्त्सन्तः, षट् सन्तः।।

अर्थः—टित् और कित् जिस के अवयव कहे गये हों वे उस के क्रमशः आद्यवयव तथा अन्तावयव होते हैं।

व्याख्या—आद्यन्तौ ।१।२। टकितौ ।१।२। समासः—आदिश्च अन्तश्च= आद्यन्तौ। इतरेतरद्वन्द्वः। टश्च क् च=टकौ। टकारादकार उच्चारणार्थः। इतरेतर-द्वन्द्वः। टकौ इतौ ययोस्तौ टकितौ। बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(टकितौ) टकार इत् वाला तथा ककार इत् वाला क्रमशः (आद्यन्तौ) आद्यवयव तथा अन्तावयव होता है। किस का अवयव होता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर सुतरां यह आ जाता है कि जिस का अवयव विधान किया गया हो। 'क्रमशः' शब्द **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** (२३) परिभाषा द्वारा प्राप्त होता है।

'षड्+सन्तः' यहां **ङः सि धुँट्** (८४) सूत्र से सकार का अवयव धुँट् विधान किया गया है। धुँट् के टकार की **हलन्त्यम्** (१) सूत्र से इत् सञ्ज्ञा होती है अतः धुँट् टित् है। इस लिये यह सकार का आद्यवयव होगा। 'षड्+धुँट् सन्तः' ऐसा हो कर **हलन्त्यम्** (१) द्वारा टकार तथा **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) द्वारा उकार की इत्संज्ञा हो जाती है[1] पुनः इन इत्सञ्ज्ञकों का **तस्य लोपः** (३) से लोप करने पर—

हो रहा है। इस शास्त्र में आगम प्रायः टित्, कित् या मित् होते हैं। धुँट् आदि टित् हैं। कुँक्, टुँक् आदि कित् हैं। नुँम् आदि मित् आगम कहाते हैं। टित् का आगम जिसे कहा जाये उस के आदि में, कित् का आगम जिसे कहा जाये उस के अन्त में, तथा मित् का आगम जिसे कहा जाये उस के अन्त्य अच् से परे बैठता है। यह सब (८५, २४०) सूत्रों पर आगे स्पष्ट हो जायेगा।

१. ध्यान रहे कि कुछ वैयाकरण यहां उकार आदि को उच्चारणार्थक मानते हुए प्रयोजनाभाव के कारण इन की इत्संज्ञा नहीं करते। परन्तु अन्य वैयाकरणों का कथन है कि उच्चारण भी तो एक प्रयोजन है अतः इन की इत्संज्ञा और लोप अवश्य करना चाहिये। इसी प्रकार आगे कुँक्-टुँक्-तुँक्-नुँम् अनँङ् आदियों में भी समझ लेना चाहिये।

'षड्+ध् सन्तः' । अब **खरि च** (७४) सूत्र से सकार खर् के परे होने पर धकार को तकार पुनः उस तकार को भी खर् मान डकार को भी टकार हो कर 'षट्त्सन्तः'[1] प्रयोग निष्पन्न हुआ । जिस पक्ष में 'धुँट्' आगम न हुआ उस पक्ष में **खरि च** (७४) से डकार को टकार हो कर 'षट् सन्तः' प्रयोग सिद्ध हुआ । इस प्रकार इस के दो रूप बन गये ।

इस के अन्य उदाहरण यथा—१ लिट्त्सु, लिट्सु । २ षट्त्सुखानि, षट् सुखानि । ३ तुराषाट्त्संसरति, तुराषाट् संसरति । ४ षट्त्सन्ततयः, षट् सन्ततयः । ५ षट्त्समस्याः, षट् समस्याः । ६ षट्त्सन्निकर्षाः, षट् सन्निकर्षाः । इत्यादि ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८६) ङ्णोः कुँक्टुँक् शरि ।८।३।२८।।**

वा स्तः ।।

अर्थः—शर् परे होने पर ङकार णकार को क्रमशः विकल्प करके कुँक् और टुँक् का आगम हो जाता है ।

व्याख्या—ङ्णोः ।६।२। कुँक्टुँक् ।१।१। शरि ।७।१। वा इत्यव्ययपदम् (**हे मपरे वा** से) । समासः—ङ् च ण् च=ङ्णौ, तयोः=ङ्णोः । इतरेतरद्वन्द्वः । कुँक् च टुँक् च=कुँक्टुँक्, समाहारद्वन्द्वः । अर्थः—(शरि) शर् परे होने पर (ङ्णोः) ङकार और णकार के अवयव (कुँक्टुँक्) कुँक् और टुँक् (वा) विकल्प करके होते हैं । कुँक् और टुँक् कित् हैं अतः **आद्यन्तौ टकितौ** (८५) परिभाषा से ये ङकार और णकार के अन्तावयव होंगे । यथासंख्यपरिभाषा (२३) से ङकार को कुँक् तथा णकार को टुँक् का आगम होगा । उदाहरण यथा—

'प्राङ्+षष्ठः, सुगण्+षष्ठः' यहां ङकार णकार से परे षकार शर् विद्यमान है अतः ङकार को कुँक् तथा णकार को टुँक् का आगम हो कर उकार और ककार अनुबन्धों का लोप हो गया तो—

[कुँक्टुँक्पक्षे]	प्राङ्क्+षष्ठः ।	सुगण्ट्+षष्ठः ।
[कुँक्टुँकोरभावे]	प्राङ्+षष्ठः ।	सुगण्+षष्ठः ।

अब कुँक्-टुँक्-पक्ष में अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—**(१४) चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम् ।।**

प्राङ्ख्षष्ठः, प्राङ्क्षष्ठः; प्राङ्षष्ठः । सुगण्ठ्षष्ठः, सुगण्ट्षष्ठः; सुगण् षष्ठः ।।

अर्थः—शर् परे होने पर चय् प्रत्याहार के स्थान पर वर्गों के द्वितीय वर्ण विकल्प कर के हो जाते हैं ।

व्याख्या—चयः ।६।१। द्वितीयाः ।१।३। शरि ।७।१। पौष्करसादेः ।६।१। इति इत्यव्ययपदम् । वाच्यम् ।१।१। अर्थः—(चयः) चय् अर्थात् वर्गों के प्रथम वर्णों के

१. यहां चर्त्व असिद्ध है अतः **चयो द्वितीयाः शरि०** (वा० १४) से तकार को थकार नहीं होता । इसी प्रकार 'षट्सन्तः' में भी समझ लेना चाहिये । यहां ष्टुत्व का भी **न पदान्ताट् टोरनाम्** (६५) सूत्र से निषेध हो जाता है ।

स्थान पर (द्वितीयाः) वर्गों के द्वितीय वर्ण हों (शरि) शर् प्रत्याहार परे होने पर (इति) यह (पौष्करसादेः) पौष्करसादि आचार्य के मत में (वाच्यम्) कहना चाहिये। अन्य आचार्यों के मत में न होने से विकल्प सिद्ध हो जायेगा। पौष्करसादि पाणिनि से पूर्ववर्त्ती वैयाकरण थे।

आन्तर्य के कारण वर्गप्रथम को उसी वर्ग का द्वितीय वर्ण हो जायेगा। भाव यह है कि श्, ष्, स् के परे होने पर क् को ख्, च् को छ्, ट् को ठ्, त् को थ् तथा प् को फ् आदेश विकल्प से हो जाता है। उदाहरण यथा—

१ संवथ्सरः, संवत्सरः। २ अभीफ्सा, अभीप्सा। ३ अख्षरम्, अक्षरम्। ४ ख्षीरम्, क्षीरम्। ५ ख्षमा, क्षमा। ६ ख्षितिः, क्षितिः। ७ थ्सरुः, त्सरुः। ८ अफ्सरसः, अप्सरसः। ९ विरफ्शिन्, विरप्शिन्। १० अख्षि, अक्षि। इत्यादि।

'प्राङ् क्+षष्ठः, सुगण् ट्+षष्ठः' इन दोनों स्थानों पर षकार=शर् परे रहने के कारण ककार और टकार को क्रमशः खकार और ठकार होकर निम्नलिखित रूप बने—

कुँक् पक्ष में { १ प्राङ्ख्षष्ठः। (पौष्करसादि के मत में)
२ प्राङ्क्षष्ठः[1]। }

कुँक्-अभाव में—३ प्राङ् षष्ठः।

टुँक् पक्ष में { १ सुगण्ठ्षष्ठः। (पौष्करसादि के मत में)
२ सुगण्ट्षष्ठः। }

टुँक्-अभाव में—३ सुगण् षष्ठः।

इस के अन्य उदाहरण यथा—१ प्राङ्ख्षु, प्राङ्क्षु, प्राङ्षु। २ गवाङ्ख्षु, गवाङ्क्षु, गवाङ्षु। ३ तिर्यङ्ख् स्वपिति, तिर्यङ्क् स्वपिति, तिर्यङ् स्वपिति। ४ क्रुङ्ख् श्वसिति, क्रुङ्क् श्वसिति, क्रुङ् श्वसिति। ५ उदङ्ख् शृणोति, उदङ्क् शृणोति, उदङ् शृणोति। ६ सुगण्ख् सहते, सुगण्क् सहते, सुगण् सहते। इत्यादि।

नोट—**चयो द्वितीयाः शरि०** वार्तिक **अनचि च** (८.४.४६) सूत्र पर पढ़ा गया है। यद्यपि **खरि च** (८.४.५४) सूत्र त्रिपादी में इस वार्तिक से परे होने के कारण इसे असिद्ध नहीं समझ सकता, तथापि वार्तिक के आरम्भसामर्थ्य से उस की यहां प्रवृत्ति नहीं होती। अन्यथा वार्तिक बनाने का कुछ प्रयोजन ही न रहे।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८७) **नश्च** ।८।३।३०॥

नान्तात् परस्य सस्य धुँड् वा। सन्त्सः, सन्सः॥

अर्थः—नकारान्त से परे सकार को विकल्प कर के धुँट् का आगम होता है।

व्याख्या—नः ।५।१। सि ।७।१। धुँट् ।१।१। (**डः सि धुँट्** से)। च इत्यव्यय-पदम्। वा इत्यव्ययपदम् (**हे मपरे वा** से)। अर्थः—(नः) न् से परे (सि=सः)

---

१. ककार और षकार मिल कर 'क्ष्' हो जाता है। क्+ष्+अ=**क्ष**।

सकार का अवयव (धुँट्) धुँट् (वा) विकल्प करके हो जाता है। **आद्यन्तौ टकितौ** (८५) द्वारा धुँट् सकार का आद्यवयव होगा। उदाहरण यथा—

'सन्+सः' (वह सज्जन है) यहां न् से सकार परे है अतः सकार को धुँट् का वैकल्पिक आगम हो कर उँट् अनुबन्ध का लोप हो जाता है। अब **खरि च** (७४) सूत्र से चर्त्व अर्थात् धकार को तकार करने से—सन्त्सः। धुँट्-अभाव पक्ष में—सन्सः। इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं। इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

१. अस्मिन्त्समये, अस्मिन्समये। २. भवान्त्सखा, भवान्सखा। ३. सन्त्साधुः, सन्साधुः। ४. तान्त्सपत्नान्, तान्सपत्नान्। ५. धनवान्त्सहोदरः, धनवान्सहोदरः। ६. पठन्त्साङ्ख्यम्, पठन्साङ्ख्यम्। ७. विद्वान्त्सहते, विद्वान्सहते। ८. पुमान्त्स्त्रिया, पुमान्स्त्रिया। ९. नेन्त्सिद्धबध्नातिषु च, नेन्सिद्धबध्नातिषु च। १०. तान्त्साध्यान्त्साधय, तान्साध्यान्साधय। इत्यादि।

नोट—वृत्ति में 'नान्तात्' पद 'नः' को 'पदात्' का विशेषण कर देने से **येन विधिस्तदन्तस्य** द्वारा प्राप्त होता है। इस से हानि लाभ कुछ नहीं।

शङ्का—ङः सि धुँट् (८४) **नश्च** (८७) इन दो ही सूत्रों में 'सि' का ग्रहण होता है। इन्हीं दोनों स्थानों पर **उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्** इस परिभाषा का आश्रय कर 'सस्य' ऐसा मानना पड़ता है। इस से तो यही अच्छा होता कि यहां 'सि' पद की बजाय 'सः' पद ग्रहण कर लेते।

समाधान—'सः' ऐसा स्पष्ट षष्ठ्यन्त पद न कह कर 'सि' इस प्रकार सप्तम्यन्त पद के ग्रहण का प्रयोजन लाघव करना ही है। 'सि' में डेढ़ मात्रा है परन्तु 'सः' में दो मात्रा होती थीं। [स् की आधी, इ की एक, कुल डेढ़। स् की आधी, अ की एक, विसर्गों की आधी, कुल दो। अर्धमात्रा का लाघवगौरव है। **अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः**—यह उक्ति यहां चरितार्थ होती है।]

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८८) शि तुँक्** ।८।३।३१॥

पदान्तस्य नस्य शे परे तुँग्वा। सञ्छम्भुः, सञ्च्छम्भुः, सञ्च्शम्भुः, सञ्शम्भुः॥

अर्थः—शकार परे होने पर पदान्त नकार को विकल्प कर के तुँक् का आगम होता है।

व्याख्या—शि ।७।१। नः ।६।१। (**नश्च** से)। पदस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। वा इत्यव्ययपदम् (**हे मपरे वा** से)। तुँक् ।१।१। 'नः' यह 'पदस्य' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि होती है। **अर्थः**—(शि) शकार परे होने पर (**नः**) नान्त (**पदस्य**) पद का अवयव (वा) विकल्प करके (तुँक्) तुँक् हो जाता है। '**तुँक्**' कित् होने से **आद्यन्तौ टकितौ** (८५) के अनुसार नान्त पद का अन्तावयव होगा।

उदाहरण यथा—

'सन्+शम्भुः' (शम्भु भगवान् सत्स्वरूप है) यहां शकार परे है, अतः 'सन्'

इस नान्त पद को तुँक् का आगम हो कर उँक् की इत्सञ्ज्ञा लोप करने पर—सन्त् शम्भुः । **स्तोः श्चुना श्चुः** (६२) से त् को च् और न् को ञ् हो कर—सञ्च् शम्भुः । अब **शश्छोऽटि** (७६) से विकल्प कर के शकार को छकार हो—सञ्च् छम्भुः । पुनः **झरो झरि सवर्णे** (७३) से चकार का विकल्प करके लोप किया तो—(१) सञ्छम्भुः । जहां चकार का लोप न हुआ वहां (२) सञ्च्छम्भुः । जहां छत्व न हुआ वहां (३) सञ्च्शम्भुः । जहां तुँक् ही न हुआ वहां श्चुत्व हो (४) सञ्शम्भुः । इस प्रकार चार रूप सिद्ध हुए । रूपों के विषय में निम्नलिखित एक श्लोक प्रसिद्ध है—

अछौ अचछा अचशा अशाविति चतुष्टयम् ।
रूपाणामिह तुँक्-छत्व-चलोपानां विकल्पनात् ॥

नोट—विद्यार्थी प्रायः इस रूप की सिद्धि में भूल कर जाया करते हैं । भूल से बचने के लिये सब से प्रथम एक ही रूप को पकड़ें; जितने विकल्प हों उन सब को छोड़ दें । अर्थात् प्रथम एक ही रूप में तुँक्, छत्व तथा चकारलोप कर के उसे सम्पूर्ण सिद्ध कर लेना चाहिये । इस के बाद अन्तिम विकल्प से वैकल्पिक रूपों को पकड़ना आरम्भ करना चाहिये । अन्तिम विकल्प चकारलोप है जहां चकारलोप नहीं हुआ उस रूप को सिद्ध करना चाहिये । इस के बाद छत्व के विकल्प को पकड़ उसे सिद्ध करना चाहिये । तदनन्तर तुँक् का विकल्प सिद्ध करना चाहिये । इस प्रकार करने से रूपों में कोई अशुद्धि नहीं आयेगी । याद रखें कि शुद्ध-सिद्धि के रूपों का वही क्रम होता है जो ऊपर श्लोक में दिया गया है ।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—१. बालाञ्छास्ति । २. विद्वाञ्च्छोभते । ३. पुत्राञ्च्शाययति । ४. नमञ् शाखी । ५. श्वसञ्छेते । ६. भजञ्छिवम् । ७. बुद्धिमाञ्च्शृणोति । ८. धनवाञ् शूद्रः । ९. पठञ्छोचति । १०. आगच्छञ्च्छौनकादयः । ११. पुमाञ्च्श्रूयते । १२. मतिमाञ् श्लाघते । इत्यादि । प्रत्येक के चार चार रूप जानने चाहियें ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८९) **ङमो ह्रस्वादचि ङमुँण्नित्यम्** ।८।३।३२॥

ह्रस्वात् परो यो ङम् तदन्तं यत्पदं तस्मात्परस्याचो नित्यं ङमुँट् । प्रत्यङ्ङात्मा । सुगण्णीशः । सन्नच्युतः ॥

अर्थः—ह्रस्व से परे जो ङम्, वह है अन्त में जिस के ऐसा जो पद उस से परे अच् को नित्य ङमुँट् का आगम होता है ।

व्याख्या—ङमः ।५।१। ह्रस्वात् ।५।१। अचि ।७।१। ङमुँट् ।१।१। नित्यम् इति क्रियाविशेषणं द्वितीयैकवचनान्तम् । यहां पीछे से अधिकृत 'पदात्' पद आ रहा है। 'ङमः' यह 'पदात्' का विशेषण है, अतः 'ङमः' से तदन्त-विधि होगी । **उभयनिर्देशे पञ्चमी-निर्देशो बलीयान्** इस परिभाषा के द्वारा ङमुँट् 'अचि' का ही अवयव समझा जायेगा । अर्थः—(ह्रस्वात्) ह्रस्व से परे (ङमः) जो ङम् तदन्त (पदात्) पद से परे (अचि=अचः) अच् का अवयव (नित्यम्) नित्य (ङमुँट्) ङमुँट् हो जाता है ।

'ङमुँट्' में ङम् प्रत्याहार है उँकार उच्चारणार्थ तथा ट् **हलन्त्यम्** (१) से इत्सञ्ज्ञक है । ङम् प्रत्याहार को टित् करने का कोई प्रयोजन नहीं अतः सञ्ज्ञियों

अर्थात् ङ्, ण्, न् के साथ टित्त्व का सम्बन्ध हो कर—'ङुँट्, णुँट्, नुँट्' ये तीन आगम प्राप्त होंगे। **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** (२३) के अनुसार ङकारान्त पद से परे अच् को ङुँट्, णकारान्त पद से परे अच् को णुँट् तथा नकारान्त पद से परे अच् को नुँट् का आगम होगा। उदाहरण यथा—

(१) 'प्रत्यङ्+आत्मा' (जीवात्मा) यहां यकारोत्तर ह्रस्व अवर्ण से परे ङ्=ङम् है; अतः 'प्रत्यङ्' ङकारान्त पद हुआ। इस से परे अच् आकार को ङुँट् का आगम हो, उँट् के चले जाने पर 'प्रत्यङ्ङात्मा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(२) 'सुगण्+ईश' (सुगणाम्=सुयोग्य-गणितज्ञानाम् ईशः=स्वामी, षष्ठी-तत्पुरुष-समासः) यहां गकारोत्तर ह्रस्व अवर्ण से परे ण्=ङम् है; अतः 'सुगण्' णकारान्त पद हुआ। इस से परे अच्=ईकार को णुँट् का आगम हो, उँट् के चले जाने पर विभक्ति लाने से 'सुगण्णीशः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(३) 'सन्+अच्युतः' (अच्युत भगवान् सत्स्वरूप है) यहां सकारोत्तर ह्रस्व अवर्ण से परे न्=ङम् है; अतः 'सन्' यह नकारान्त पद हुआ। इस से परे अच्=अकार को नुँट् का आगम हो, उँट् के चले जाने से 'सन्नच्युतः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

नोट—इस सूत्र में स्थित 'नित्यम्' पद का अर्थ 'प्रायः' है; अर्थात् यथा देवदत्त नित्य हंसता ही रहता है, विष्णुमित्र नित्य खाता ही रहता है इत्यादि वाक्यों में 'नित्य' शब्द का 'प्रायः' (बहुधा) अर्थ है इसी प्रकार यहां भी समझना चाहिये। अतः **इको यण् अचि, सुप्तिङ्-अन्तं पदम्, सन्-आद्यन्ता धातवः** इत्यादि सूत्रों में ङमुँट् न होने पर भी कोई दोष नहीं आता। **सन्नन्तान्न सनिष्यते**—यहां पर दोनों प्रकार के उदाहरण हैं। [केचित्तु अनुबन्धो यो ङम् तदन्तात् पदादचो ङमुँडागमे कामचारिता, अन्यत्र तु नित्यतेत्याहुः।]

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

१. कुर्वन्नास्ते। २. तिङ्ङतिङः। ३. तस्मिन्निति। ४. एकस्मिन्नहनि। ५. गच्छन्नवोचत्। ६. जानन्नपि। ७. भगवन्नत्र। ८. तस्मिन्नणि। ९. हसन्नागच्छति। १०. पठन्नपतत्। ११. अस्मिन्नुद्याने। १२. सुगण्णालयः।

'ह्रस्वात्' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि—भवान्+अत्र='भवानत्र' इत्यादि प्रयोगों में दीर्घ से परे ङम् होने से अच् को ङमुँट् न हो। 'अचि' कहने से—'गच्छन्+भुङ्क्ते' आदि में भकार को ङमुँट् का आगम नहीं होता।

अभ्यास (२१)

(१) जहां सप्तमी और पञ्चमी दोनों विभक्तियों द्वारा निर्देश हो वहां **तस्मिन्निति**॰तथा **तस्मादित्युत्तरस्य** इन में किस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है?
(२) **आद्यन्तौ टकितौ** सूत्र की आवश्यकता पर सोदाहरण प्रकाश डालें।
(३) षट्त्सन्तः, षट्सन्तः – आदि प्रयोगों में **चयो द्वितीयाः शरि॰** वार्त्तिक द्वारा वर्गद्वितीय आदेश क्यों नहीं होता?
(४) 'प्राङ्ख्षष्ठः' आदि प्रयोगों में **खरि च** द्वारा चर्त्व क्यों नहीं होता?
(५) **ङः सि धुँट्** सूत्र को स्पष्टता के लिये **ङः सः धुँट्** ही क्यों नहीं कहा?

(६) क्या उपाय किया जाये जिस से सिद्धि करते समय 'सञ्छम्भुः' आदि रूपों का क्रम ग्रन्थोक्तप्रकार से शुद्ध सिद्ध हो ?

(७) **ङमो ह्रस्वादचि ङमुँण्नित्यम्** सूत्र में ङमुँट् को नित्य कहने वाले आचार्य किस कारण **इको यण् अचि** आदि में स्वयं ङमुँट् आगम नहीं करते ?

——::०::——

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९०) **समः सुँटि** ।८।३।५।।

समो रुँः स्यात् सुँटि ।।

अर्थः—सुँट् परे होने पर सम् के मकार के स्थान पर 'रुँ' आदेश हो ।

व्याख्या—समः ।६।१। सुँटि ।७।१। रुँः ।१।१। (**मतुँवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि** से) । अर्थः—(सुँटि) सुँट् परे हो तो (समः) सम् के स्थान पर (रुँः) रुँ आदेश हो जाता है । **अलोऽन्त्यस्य** (२१) परिभाषा के अनुसार सम् के अन्त्य अल्=मकार को ही रुँ आदेश होगा ।

'सम्+स्कर्ता' [यहां 'सम्' पूर्वक **डुकृञ् करणे** (तना०) धातु से तृच् प्रत्यय हो **सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे** सूत्र से कृ को सुँट् का आगम हो कर उँट् का लोप हो जाता है ।] यहां सुँट् परे रहने से मकार को रुँ आदेश हो, अनुनासिक उकार की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा कर **तस्य लोपः** (३) से लोप किया तो 'सर्+स्कर्ता' हुआ । अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९१) **अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा** ।८।३।२।।

अत्र रुँ-प्रकरणे रोः पूर्वस्याऽनुनासिको वा स्यात् ।।

अर्थः—इस रुँप्रकरण में रुँ से पूर्व वर्ण को विकल्प से अनुनासिक हो ।

व्याख्या— अत्र इत्यव्ययपदम् । अनुनासिकः ।१।१। पूर्वस्य ।६।१। तु इत्यव्ययपदम् । वा इत्यव्ययपदम् । **मतुँवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि** (८.३.१) सूत्र के बाद यह पढ़ा गया है । यहां 'अत्र' इसी रुँप्रकरण के लिये है; अतः **ससजुषो रुँः** (१०५) सूत्र से किये गये रुँ वाले स्थानों पर यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा ।[1] अर्थः—(अत्र) **मतुँवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि** सूत्र से आरम्भ किये गये रुँ प्रकरण में (रोः) रुँ से (पूर्वस्य) पूर्व वर्ण के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (अनुनासिकः) अनुनासिक हो जाता है ।

---

१. अष्टाध्यायी में रुँ का प्रकरण दो स्थानों पर आता है । एक अष्टमाध्याय के तृतीयपादस्थ **मतुँवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि** (८.३.१) सूत्र से लेकर **कानाम्रेडिते** (८.३.१२) सूत्र तक, और दूसरा **ससजुषो रुँः** (८.२.६६) आदि सूत्रों में । यहां 'अत्र' शब्द के कथन से प्रथम प्रकरण का ही ग्रहण होता है दूसरे **ससजुषो रुँः** (१०५) वाले प्रकरण का नहीं । इस प्रकरण के पांच सूत्र लघुकौमुदी में व्याख्यात हैं—**समः सुँटि** (९०), **पुमः खय्यम्परे** (९४), **नश्छव्यप्रशान्** (९५), **नॄन् पे** (९७), **कानाम्रेडिते** (१००)। अतः इन पांच सूत्रों के विषय में ही प्रकृत अनुनासिक (९१) तथा अनुस्वार (९२) की प्रवृत्ति समझनी चाहिये ।

'सर्+स्कर्ता' यहां रुँ से पूर्व सकारोत्तर अकार को अनुनासिक हो—'सँर्+स्कर्ता' हुआ। जिस पक्ष में अनुनासिक नहीं होता वहां अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(९२) अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः।८।३।४॥**

अनुनासिकं विहाय रोः पूर्वस्मात् परोऽनुस्वारागमः स्यात्॥

अर्थः—जहां अनुनासिक होता है उस रूप को छोड़ अन्य पक्ष वाले रूप में रुँ से पूर्व जो वर्ण उस से परे अनुस्वार का आगम होता है।

व्याख्या—अनुनासिकात्।५।१। रोः।५।१। (**मतुँवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि** से विभक्ति-विपरिणाम द्वारा)। पूर्वात्।५।१। (**अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा** से विभक्ति-विपरिणाम द्वारा)। परः।१।१। अनुस्वारः।१।१। 'अनुनासिकात्' यहां ल्यब्लोप में पञ्चमी विभक्ति हुई है। यथा—प्रासादात् प्रेक्षते, प्रासादमारुह्य प्रेक्षत इत्यर्थः। अतः यहां 'विहाय' इस ल्यबन्त का लोप समझना चाहिये। 'अनुनासिकं विहाय' ऐसा इस का तात्पर्य होगा। 'अनुनासिक' शब्द में मत्वर्थीय अच् प्रत्यय हुआ है। अनुनासिकोऽस्त्यस्मिन्नित्यनुनासिकम्। अनुनासिकवद् रूपम् इत्यर्थः। अर्थः—(अनुनासिकात्) अनुनासिक वाले रूप को छोड़ कर (रोः) रुँ से (पूर्वात्) पूर्व जो वर्ण, उस से (परः) परे (अनुस्वारः) अनुस्वार का आगम होता है। तात्पर्य यह है कि जिस पक्ष में अनुनासिक नहीं होता उस पक्ष में इस सूत्र से रुँ से पूर्व अनुस्वार का आगम होता है। ध्यान रहे कि पूर्वोक्त अनुनासिक आदेश था और यह अनुस्वार आगम है।

'सर्+स्कर्ता' यहां अनुनासिकाभाव-पक्ष में रुँ से पूर्व वर्ण=अकार से परे अनुस्वार का आगम हो—'संर्+स्कर्ता' हुआ। तो अब इस प्रकार—(१) सँर्+स्कर्ता [अनुनासिक-पक्षे]। (२) संर्+स्कर्ता [अनुस्वारागम-पक्षे]। अब दोनों पक्षों में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(९३) खरवसानयोर्विसर्जनीयः।८।३।१५॥**

खरि अवसाने च पदान्तस्य रेफस्य विसर्गः स्यात्॥

अर्थः—खर् और अवसान परे होने पर पदान्त रेफ के स्थान पर विसर्ग हो।

व्याख्या—खरवसानयोः।७।२। पदस्य।६।१। (यह अधिकृत है)। रः।६।१। (**रो रि** से)। विसर्जनीयः।१।१। 'रः' यह 'पदस्य' का विशेषण हैं अतः **येन विधिस्तदन्तस्य** द्वारा तदन्तविधि हो कर 'रेफान्तस्य पदस्य' ऐसा बन जायेगा। समासः—खर् च अवसानञ्च=खरवसाने, तयोः=खरवसानयोः। इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(खरवसानयोः) खर् और अवसान परे होने पर (रः) रेफान्त (पदस्य) पद के स्थान पर (विसर्जनीयः) विसर्ग आदेश होता है। **अलोऽन्त्यस्य** (२१) परिभाषा द्वारा रेफान्त पद के अन्त्य अल् रेफ को ही विसर्ग होगा।

'सँर्+स्कर्ता, संर्+स्कर्ता' यहां सुँट् वाला सकार खर् परे है अतः दोनों पक्षों में पदान्त रेफ को विसर्ग आदेश हो कर—'सँः+स्कर्ता, संः+स्कर्ता' हुआ। अब यहां **विसर्जनीयस्य सः** (९६) के अपवाद **वा शरि** (१०४) सूत्र की प्राप्ति होती है; इस पर नित्यसकार के विधानार्थ अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(१५) **सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः** ।।

सँस्स्कर्ता, संस्स्कर्ता ।।

अर्थः—सम्, पुम् तथा कान् शब्दों के विसर्ग को सकार आदेश होता है ।

व्याख्या—सम्पुङ्कानाम् ।६।३। विसर्गस्य ।६।१। (प्रकरणलब्ध) । सः ।१।१। वक्तव्यः ।१।१। समासः—सम् च पुम् च कान् च=सम्पुङ्कानः, तेषाम्=सम्पुङ्कानाम् । इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(सम्पुङ्कानाम्) सम्, पुम् और कान् शब्दों के (विसर्गस्य) विसर्ग के स्थान पर (सः) स् आदेश (वक्तव्यः) कहना चाहिये ।

'सँः+स्कर्ता, संः+स्कर्ता' यहां सम् के विसर्ग हैं अतः विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश हो कर—१. सँस्स्कर्ता, २. संस्स्कर्ता ये दो रूप सिद्ध होते हैं ।

भाष्य में **समो वा लोपमेके** द्वारा सम् के मकार का पाक्षिक लोप भी प्रतिपादन किया गया है । यह लोप भी इसी रुँ के प्रकरण में स्थित है अतः अनुनासिक और अनुस्वार भी होते हैं । इस प्रकार 'सँस्कर्ता, संस्कर्ता' ये एक सकार वाले रूप भी बनते हैं । अत एव 'संस्कृतम्' में एक सकार देखा जाता है । **सिद्धान्त-कौमुदी** में इस के १०८ रूप बनाये गये हैं; विशेष जिज्ञासु वहीं देखें ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९४) **पुमः खय्यम्परे** ।८।३।६।।

अम्परे खयि पुमो रुँः स्यात् । पुँस्कोकिलः, पुंस्कोकिलः ।।

अर्थः—अम् प्रत्याहार जिस से परे है ऐसा खय् यदि परे हो तो पुम्[1] शब्द के मकार को रुँ आदेश होता है ।

व्याख्या—पुमः ।६।१। रुँः ।१।१। (**मतुँवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि** सूत्र से)। खयि ।७।१। अम्परे ।७।१। समासः—अम् परो यस्माद् असौ=अम्परस्तस्मिन्=अम्परे । बहुव्रीहि-समासः । अर्थः—(अम्परे) अम् है परे जिस से ऐसे (खयि) खय् प्रत्याहार के परे होने पर (पुमः) पुम् शब्द के स्थान पर (रुँः) रुँ आदेश हो जाता है । **अलोऽन्त्यस्य** (२१) से पुम् के मकार को ही रुँ आदेश होगा । उदाहरण यथा—

'पुम्+कोकिल' (पुमांश्चासौ कोकिलश्चेति विग्रहः, 'पुंस्+सुँ कोकिल+सुँ' इति कर्मधारयसमासे विभक्त्योर्लुकि **संयोगान्तस्य लोपः** इति पुंसः सकारलोपे अनुस्वारस्यापि पुनर्मकारः) यहां पुम् से परे ककार खय् विद्यमान है, इस से परे ओकार अम् भी मौजूद है अतः पुम् के मकार को प्रकृतसूत्र से रुँ आदेश हो कर पूर्ववत् अनुनासिकादेश (९१) अनुस्वारागम (९२), विसर्ग (९३) तथा **सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः** (वा० १५) से विसर्ग के स्थान पर सकार कर विभक्ति लाने से 'पुँस्कोकिलः, पुंस्कोकिलः' (नर कोयल) ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

---

१. समासावस्था में जब 'पुंस्' शब्द के सकार का **संयोगान्तस्य लोपः** (२०)से लोप हो जाता है तो **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** के अनुसार अनुस्वार को भी पुनः मकार होकर 'पुम्' हो जाता है । उसी का यहां ग्रहण है; 'पुम्' कोई नया शब्द नहीं ।

नोट—'पुँस्कोकिलः, पुंस्कोकिलः' यहां **खरवसानयोः०** (९३) सूत्र से रेफ को विसर्ग करने पर **कुप्वोः ≍क ≍पौ च** (९८) सूत्र द्वारा जिह्वामूलीय प्राप्त होते थे; पुनः उस के अपवाद **सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः** (वा० १५) वार्त्तिक से सकार आदेश हो जाता है।

खय् को अम्परक इस लिये कहा है कि 'पुंक्षीरम्' आदि में रुँ आदेश न हो। यहां सकार का संयोगान्त-लोप हो कर **मोऽनुस्वारः** से मकार को अनुस्वार हो जाता है। 'खय् परे' होने पर इस लिये कहा है कि 'पुंलिङ्गम्, पुंदासः, पुंगवः, पुन्नागः'—इत्यादियों में रुँत्व न हो जाये।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(९५) नश्छव्यप्रशान् ।८।३।७॥**

अम्परे छवि नान्तस्य पदस्य रुँः स्यात्, न तु प्रशान्शब्दस्य ॥

अर्थः—जिस से परे अम् प्रत्याहार है ऐसे छव् प्रत्याहार के परे होने पर नकारान्त पद को रुँ आदेश हो; परन्तु प्रशान् शब्द को न हो।

व्याख्या—नः ।६।१। पदस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। रुँः ।१।१। (**मतुँवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि** से)। अम्परे ।७।१। (**पुमः खय्यम्परे** से)। छवि ।७।१। अप्रशान् ।१।१। (षष्ठ्यर्थे प्रथमा)। समासः—अम् परो यस्माद् असौ=अम्परः, तस्मिन्= अम्परे। बहुव्रीहिसमासः। न प्रशान्=अप्रशान्, नञ्तत्पुरुषः। 'नः' यह 'पदस्य' का विशेषण है अतः **येन विधिस्तदन्तस्य** द्वारा इस से तदन्त-विधि हो कर 'नान्तस्प पदस्य' बन जाता है। अर्थः—(अम्परे) अम् परे वाला (छवि) छव् परे होने पर (नः) नकारान्त (पदस्य) पद के स्थान पर (रुँः) रुँ आदेश होता है; परन्तु (अप्रशान्) प्रशान् शब्द को नहीं होता। **अलोऽन्त्यस्य** (२१) परिभाषा द्वारा नकारान्त पद के अन्त्य नकार को ही रुँ आदेश होगा। उदाहरण यथा—

'चक्रिन्+त्रायस्व' (हे चक्रिन्! त्वं त्रायस्व=रक्ष) यहां 'चक्रिन्' यह नान्त पद है। इस से परे तकार छव् है; तथा इस छव् से परे रेफ अम् विद्यमान है; अतः नकार को रुँ आदेश हो पूर्ववत् अनुनासिकादेश, अनुस्वारागम तथा **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (९३) से पदान्त रेफ को विसर्ग करने पर—'चक्रिँः+त्रायस्व, चक्रिंः+ त्रायस्व' ये दो रूप हुए। अब विसर्ग को सकारादेश करने वाला अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(९६) विसर्जनीयस्य सः ।८।३।३४॥**

खरि विसर्जनीयस्य सः स्यात्। चक्रिँस्त्रायस्व, चक्रिंस्त्रायस्व। अप्रशान् किम्? प्रशान् तनोति। पदान्तस्येति किम्? हन्ति॥

अर्थः—खर् परे होने पर विसर्ग के स्थान पर-सकार आदेश हो।

व्याख्या—खरि ।७।१। (**खरवसानयोर्विसर्जनीयः** से एकदेशस्वरित के कारण 'खरि' अंश)। विसर्जनीयस्य ।६।१। सः ।१।१। सकारादकार उच्चारणार्थः। अर्थः—(खरि) खर् परे होने पर (विसर्जनीयस्य) विसर्ग के स्थान पर (सः) स् आदेश होता है। उदाहरण यथा—

'चक्रिँ:+त्रायस्व, चक्रि:+त्रायस्व' यहां तकार=खर् परे है, अतः विसर्गों को स् आदेश हो—'चक्रिँस्त्रायस्व, चक्रिस्त्रायस्व' ये दो प्रयोग सिद्ध हुए।

अप्रशान् किम् ? प्रशान् तनोति। **नश्छव्यप्रशान्** (९५) सूत्र में 'प्रशान्' शब्द को रुँ करने का निषेध इस लिये किया है कि 'प्रशान्+तनोति' यहां अम्परक (अकार-परक) खय् (तकार) के परे होने पर भी पदान्त नकार को रुँ आदेश न हो।

पदान्तस्येति किम् ? हन्ति। 'पदस्य' का अधिकार होने से 'हन्ति' आदि स्थानों में अपदान्त नकार को अम्परक खय् परे होने पर भी (९५) सूत्र से रुँ आदेश नहीं होता।

'छव् परे होने पर' इसलिये कहा है कि—'पुत्रान् पालयति, तान् कामयते' इत्यादि में रुँत्व न हो जाये। छव् को अम्परक कहने से—'सन् त्सरुः' इत्यादि में रुँत्व नहीं होता।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(९७) नॄन् पे।८।३।१०॥**

'नॄन्' इत्यस्य रुँर्वा पे॥

अर्थः—पकार परे होने पर 'नॄन्' शब्द के नकार के स्थान पर विकल्प कर के 'रुँ' आदेश हो।

व्याख्या—नॄन्।६।१। ('नॄन्' यह नृशब्द के द्वितीया के बहुवचन का अनुकरण है। इस के आगे षष्ठी-विभक्ति के एकवचन का लुक् हुआ है)। रुँः।१।१। (**मतुवसो** रुँ० सूत्र से)। पे।७।१। [यहां पकारोत्तर अकार उच्चारण के लिये है अतः 'पुनाति' आदि परे होने पर भी यह सूत्र प्रवृत्त हो जाता है]। उभयथा इत्यव्ययपदम् (**उभयथर्क्षु** सूत्र से)। अर्थः—(पे) पकार परे होने पर (नॄन्) नॄन् शब्द के स्थान पर (उभयथा) विकल्प कर के (रुँ) रुँ आदेश हो जाता है। **अलोऽन्त्यस्य** (२१) परिभाषा द्वारा 'नॄन्' के अन्त्य अल् नकार को ही 'रुँ' आदेश होगा। उदाहरण यथा—

'नॄन्+पाहि' (हे राजन्! त्वं नॄन्=नरान्, पाहि=पालय। लोगों को बचाओ।) यहां पकार परे होने से 'नॄन्' के अन्त्य नकार को प्रकृतसूत्र से रुँ आदेश हो पूर्ववत् अनुनासिकादेश, अनुस्वारागम तथा रेफ को विसर्ग करने पर 'नॄँ:+पाहि, नॄं:+पाहि' ये दो रूप हुए। अब **विसर्जनीयस्य सः** (९६) के प्राप्त होने पर उस का अपवाद अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(९८) कुप्वोः ≍क≍पौ च।८।३।३७॥**

कवर्गे पवर्गे च परे विसर्गस्य ≍क≍पौ स्तः। चाद् विसर्गः। नॄँ≍पाहि, नॄँ: पाहि; नॄं≍पाहि, नॄं: पाहि; नॄन्पाहि॥

अर्थः—कवर्ग पवर्ग परे होने पर विसर्ग को क्रमशः जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय आदेश होते हैं। सूत्र में चकार-ग्रहण से पक्ष में विसर्ग भी रहता है।

व्याख्या—कुप्वोः।७।२। विसर्जनीयस्य।६।१। (**विसर्जनीयस्य सः** से)। ≍क-≍पौ।१।२। च इत्यव्ययपदम्। समासः—≍कश्च≍पश्च=≍क≍पौ, इतरेतर-द्वन्द्वः। यहां ककार पकार ग्रहण इस लिये किया गया है कि जिह्वामूलीय और उप-

ध्मानीय सदा क्रमशः कवर्ग पवर्ग के ही आश्रित रहते हैं। कुश्च पुश्च=कुपू, तयोः= कुप्वोः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(कुप्वोः) कवर्ग पवर्ग परे होने पर (विसर्जनीयस्य) विसर्ग के स्थान पर क्रमशः (≍क≍पौ) जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय हो जाते हैं। (च) किञ्च पक्ष में विसर्ग भी बना रहता है[1]।

सम्पूर्ण कवर्ग पवर्ग में विसर्ग प्राप्त नहीं हो सकते। विसर्ग केवल 'क् ,ख्, प्, फ्' इन चार वर्णों के परे होने पर ही मिल सकते हैं। क्योंकि विसर्ग विधान करने वाला **खरवसानयोः०** (९३) यही एक सूत्र है। यह सूत्र खर् परे होने पर ही विसर्ग आदेश करता है। खर् प्रत्याहार में कवर्ग पवर्ग का इन चार वर्णों के सिवाय अन्य कोई वर्ण नहीं आता; अतः यह सूत्र 'क्, ख्, प्, फ्' परे होने पर ही विसर्गों को जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय करता है।

'नॅॄः+पाहि, नंॄः+पाहि' यहां पकार परे होने से विसर्गों को उपध्मानीय हो कर—नॅॄ≍पाहि, नंॄ≍पाहि। विसर्गपक्ष में—नॅॄः पाहि, नंॄः पाहि। जहां **नॄन्पे** (९७) सूत्र से रुँ आदेश नहीं होता उस पक्ष में—नॄन्पाहि। इस प्रकार कुल मिला कर पाञ्च रूप सिद्ध होते हैं। एवम्—'नॅॄ≍पश्य' इत्यादि।

नोट—विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय आदि का पाठ अट् तथा शल् प्रत्याहार में स्वीकार किया जाता है। अतः इन के यर्प्रत्याहारान्तर्गत होने के कारण **अनचि च** (१८) सूत्र से इन को वैकल्पिक द्वित्व भी हो जाता है। इस से—'नॅॄ≍≍पाहि, नंॄः: पाहि' इत्यादि प्रकारेण द्वित्व वाले रूप भी बना करते हैं।

विशेष—शर्परे विसर्जनीयः (८.३.३५)—शर् परे वाला खर् परे हो तो विसर्जनीय का विसर्जनीय ही रहता है अन्य कोई परिवर्तन नहीं होता। इस बाधकसूत्र के कारण—'अतः क्षन्तव्यः, वासः क्षौमम्, नापितः क्षुरमाधत्ते' इत्यादि में प्रकृतसूत्र से जिह्वामूलीय नहीं होता। इसीप्रकार—'बालैः प्सातमोदनम्' आदि में उपध्मानीय तथा 'विलक्षणः त्सरुः' आदि में **विसर्जनीयस्य सः** (९६) द्वारा प्राप्त सकार आदेश का भी बाध हो जाता है।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—**(९९) तस्य परमाम्रेडितम्** ।८।१।२।।

द्विरुक्तस्य परम् आम्रेडितं स्यात् ।।

अर्थः—दो बार कहे गये का परला रूप 'आम्रेडित' सञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—तस्य ।६।१। परम् ।१।१। आम्रेडितम् ।१।१। इस सूत्र से पूर्व **सर्वस्य द्वे** इस प्रकार द्वित्व का अधिकार किया गया है; अतः यहां 'तस्य' पद से 'द्विरुक्तस्य' का ग्रहण हो जाता है। अर्थः—(तस्य) उस दो बार पढ़े गये का (परम्) परला रूप (आम्रेडितम्) आम्रेडित सञ्ज्ञक होता है। यथा 'किम्' शब्द के द्वितीयाविभक्ति के

---

१. चकार-ग्रहण से **शर्परे विसर्जनीयः** (८.३.३५) सूत्र से 'विसर्जनीयः' पद की अनुवृत्ति आ जाती है। इस से पक्ष में विसर्जनीय भी रहता है। यदि सूत्र में 'च' न कह कर 'वा' कहते तो पक्ष में (९६) सूत्र से स् हो कर अनिष्ट हो जाता।

बहुवचन 'कान्' पद को **नित्यवीप्सयोः** (८.१.४) सूत्र से द्वित्व किया तो 'कान् कान्' बना। यहां दूसरा 'कान्' शब्द आम्रेडित-सञ्ज्ञक है। अब आम्रेडित-सञ्ज्ञा का इस रुँ-प्रकरण में उपयोग दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१००) **कानाम्रेडिते** ।८।३।१२॥

कान्नकारस्य रुँः स्यादाम्रेडिते । काँस्कान्, कांस्कान् ॥

अर्थः—आम्रेडित परे होने पर कान् शब्द के नकार को रुँ आदेश हो।

व्याख्या—कान् ।६।१। (यहां 'किम्' शब्द के द्वितीया के बहुवचन 'कान्' शब्द का अनुकरण किया गया है। इस से परे षष्ठी के एकवचन का लुक् हुआ है)। आम्रेडिते ।७।१। रुँः ।१।१। (**मतुँवसो रुँ०** से)। अर्थः—(आम्रेडिते) आम्रेडित परे होने पर (कान्) कान् शब्द के स्थान पर रुँ आदेश हो। **अलोऽन्त्यस्य** (२१) परिभाषा से कान् के अन्त्य अल् नकार को ही रुँ आदेश होगा। उदाहरण यथा—

'कान्+कान्' यहां दूसरा कान् शब्द आम्रेडित परे है; अतः प्रथम कान् शब्द के नकार को रुँ आदेश हो कर पूर्ववत् अनुनासिकादेश, अनुस्वारागम, रेफ को विसर्ग तथा जिह्वामूलीय का बाध कर **सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः** (वा० १५) से विसर्ग को सकार आदेश करने पर 'काँस्कान्, कांस्कान्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

नोट—ध्यान रहे कि 'ताँस्तान्' में **नश्छव्यप्रशान्** (९५) प्रवृत्त होता है।

अभ्यास (२२)

(१) रुँप्रकरणोक्त अनुस्वार और अनुनासिक में कौन आदेश और कौन आगम है ?

(२) 'पुमाँश्छली' में **पुमः खय्यम्परे** से (?) रुँत्व कर कैसे सिद्धि करेंगे ?

(३) **सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः** वार्त्तिक का सोदाहरण विवेचन करें।

(४) सूत्र- समन्वय-पूर्वक निम्नलिखित प्रयोगों में सन्धिच्छेद करें—

१. विद्वांश्च्यवनः। २. नॄँ ᳵ पाठयति। ३. पुँस्खञ्जः। ४. कस्मिँश्चित्। ५. पुँश्छिद्राणि। ६. पुँस्प्रवृत्तिः। ७. सँस्कृतम्। ८. महांस्तुन्दिलः। ९. पुंस्पुत्रः। १०. पुँष्टिट्टिभः। ११. सूर्य ᳵᳵ खेचर-चक्रवर्त्ती। १२. भवाँश्छिनत्ति। १३. पुंस्क्रोधः। १४. नॄँ ᳵᳵ पालयस्व। १५. संस्स्करोति। १६. काँस्कान्। १७. पुंश्चली। १८. भास्वांश्चरति। १९. पुंस्त्वम्। २०. बुद्धिमाँश्छागः।

(५) सूत्र-समन्वय करते हुए अधोलिखित प्रयोगों में सन्धि करें—

१. पुम्+प्लीहा। २. पुम्+चर्चा। ३. सम्+स्कारः। ४. रूपवान्+ठक्कुरः[१]। ५. पुम्+फेरु। ६. नॄन्+पिपर्त्ति। ७. महान्+तिरस्कारः। ८. कान्+कान्। ९. तान्+तान्। १०. पुम्+चरित्र। ११. रामः+

---

१. पूर्वोक्त रुँत्वविधि (८.३.७) की दृष्टि में श्चुत्व-ष्टुत्वविधि (८.४.३९-४०) त्रिपादी में पर होने से असिद्ध है।

प्रजाः+पालयामास। १२. तस्मिन्+च। १३. बालः+थूत्करोति। १४. पुम्+चेष्टा। १५. चञ्चुमान्+टिट्टिभः। १६. प्रशान्+चरति। १७. नॄन्+प्रति। १८. पुम्+टिप्पणी। १९. पुम्+खर। २०. यः+क्षत्रियः।

(६) 'हन्ति' में **नश्छव्यप्रशान्** सूत्र से तथा 'पुंदासः' में **पुमः खय्यम्परे** सूत्र से रुँत्व क्यों नहीं होता ?

(७) सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
अनुनासिकात्परो०, नश्छव्यप्रशान्, पुमः खय्यम्०, कुप्वोः≍क≍पौ च।

——::०::——

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०१) छे च।६।१।७१॥**

ह्रस्वस्य छे तुँक्। शिवच्छाया॥

अर्थः—छकार परे हो तो ह्रस्व का अवयव तुँक् हो जाता है।

व्याख्या—ह्रस्वस्य।६।१। तुँक्।१।१। (**ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक्** से)। छे।७।१। च इत्यव्ययपदम्। संहितायाम्।७।१।(यह अधिकृत है)। अर्थः—(संहितायाम्) संहिता के विषय में (ह्रस्वस्य) ह्रस्व का अवयव (तुँक्) तुँक् हो जाता है (छे) छकार परे हो तो। तुँक् कित् है अतः **आद्यन्तौ टकितौ** (८५) के अनुसार वह ह्रस्व का अन्तावयव होता है। उदाहरण यथा—

'शिव+छाया' (शिव की छाया। शिवस्य छायेति विग्रहः, षष्ठी-तत्पुरुष-समासः) यहां वकारोत्तर ह्रस्व अवर्ण से छकार परे है और समास होने से संहिता का विषय भी है; अतः **आद्यन्तौ टकितौ** (८५) के अनुसार वकारोत्तर अकार का अन्तावयव तुँक् हो कर उँक् के चले जाने पर—शिवत्+छाया। अब **स्तोः श्चुना श्चुः** (८.४.३९) के असिद्ध होने से **झलां जशोऽन्ते**(८.२.३९)द्वारा तकार को दकार हो—शिवद्+छाया। पुनः **स्तोः श्चुना श्चुः** (८.४.३९) के प्रति **खरि च** (८.४.५४) के असिद्ध होने से प्रथम श्चुत्व अर्थात् दकार को जकार पश्चात् चर्त्व अर्थात् जकार को चकार किया तो—शिवच्छाया। अब 'सुँ' विभक्ति ला कर हल्ङ्याब्भ्यः०(१७९) से उस का लोप हो—'शिवच्छाया' प्रयोग सिद्ध होता है।

ध्यान रहे कि यहां **चोः कुः** (३०६) द्वारा कवर्ग आदेश नहीं होगा, क्योंकि जश्त्व, श्चुत्व और चर्त्व तीनों उसकी दृष्टि में असिद्ध हैं। उसे तो 'त्' ही दीखता है।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण अभ्यास में देखें।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०२) पदान्ताद्वा।६।१।७४॥**

दीर्घात् पदान्ताच्छे तुँग्वा। लक्ष्मीच्छाया, लक्ष्मीछाया॥

अर्थः—पदान्त दीर्घ से छकार परे हो तो विकल्प से तुँक् का आगम हो।

व्याख्या—दीर्घात्।५।१। (**दीर्घात्** सूत्र से)। पदान्तात्।५।१। छे।७।१। (**छे च** सूत्र से)। तुँक्।१।१। (**ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक्** से)। वा इत्यव्ययपदम्। अर्थः—(दीर्घात्) दीर्घ (पदान्तात्) पदान्त से (छे) छकार परे होने पर (वा) विकल्प कर

के (तुँक्) तुँक् का आगम होता है। तुँक् किस का अवयव हो ? पदान्त दीर्घ का हो या छकार का ? यह यहां प्रश्न है। **उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्** के अनुसार तो छकार का अवयव होना चाहिये। पर ऐसा नहीं होता; यह दीर्घ का ही अवयव होता है। इस का कारण यह है कि यदि यह छकार का अवयव होता तो कित् होने से छकार के अन्त में होना चाहिये था, परन्तु **विभाषा सेना-सुराच्छाया-शाला-निशानाम्** (२.४.२५) सूत्र में तो छकार के आदि अर्थात् दीर्घ से परे देखा जाता है अतः यह दीर्घ का ही अन्तावयव है यह सुतरां सिद्ध होता है। उदाहरण यथा—

'लक्ष्मी+छाया' (लक्ष्मी की छाया। लक्ष्म्याश्छायेति विग्रहः, षष्ठी-तत्पुरुषः) यहां समास में पदान्त दीर्घ ईकार से छकार परे विद्यमान है अतः दीर्घ ईकार को विकल्प कर के तुँक् का आगम हो कर पूर्ववत् उँक् के चले जाने पर जश्त्व=दकार, श्चुत्व=जकार तथा चर्त्व=चकार हो कर विभक्ति लाने से—'लक्ष्मीच्छाया, लक्ष्मीछाया' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

स्मरण रहे कि पहला सूत्र पदान्त अपदान्त कुछ नहीं कहता था इस लिये वह दोनों में प्रवृत्त होता था। परन्तु यह सूत्र पदान्त में ही प्रवृत्त होता है; वह भी तब जब पदान्त दीर्घ होगा। पदान्त—समस्त, व्यस्त दोनों अवस्थाओं में हो सकता है। ग्रन्थकार ने समस्तावस्था (समास अवस्था) का उदाहरण दिया है। व्यस्तावस्था (समासरहित अवस्था) के उदाहरण—'कुलटाच्छिन्ननासिका' आदि अभ्यास में देखें।

नोट—यदि आङ् और माङ् अव्ययों से परे छकार होगा तो दीर्घ पदान्त होते हुए भी तुँक् का आगम नित्य होगा; तब **पदान्ताद्वा** (१०२) सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा। इस के लिये नित्य तुँक् विधानार्थ **आङ्माङोश्च** (६.१.७२) यह नया सूत्र बनाया गया है। यथा—आच्छादयति, माच्छैत्सीः। इसे **सिद्धान्त-कौमुदी** में देखें।

सूचना—'मूर्च्छना, मूर्च्छा' आदि में तुँक् नहीं समझना चाहिये, किन्तु **अचो रहाभ्यां द्वे** (६०) से वैकल्पिक द्वित्व हो कर **खरि च** (७४) से चर्त्व हुआ है। किञ्च 'वाञ्छति' आदि में चकार जोड़ना अशुद्ध है, क्योंकि तुँक् प्राप्त नहीं।

[लघु०] इति हल्सन्धि-प्रकरणम् ॥

अर्थः—यहां हलों की सन्धि का प्रकरण समाप्त होता है।

व्याख्या—सन्धि एक प्रकार का वर्णविकार ही है। यदि वह विकार अच् के स्थान पर हो तो 'अच्सन्धि', हल् के स्थान पर हो तो 'हल्सन्धि' कहाता है। इसी प्रकार विसर्ग-सन्धि के विषय में भी जान लेना चाहिये। लोक में प्रायः यह प्रचलित है और हम भी लोकवाद का अनुसरण करते हुए पीछे यही लिख आये हैं कि अच् का अच् के साथ मेल=विकृति 'अच्सन्धि' और हल् का हल् के साथ मेल 'हल्सन्धि' कहाता है। पर ध्यान देने से यह ठीक प्रतीत नहीं होता। क्योंकि ऐसा मानने से **वान्तो यि प्रत्यये** (२४) आदि अच्सन्धि के सूत्रों तथा **ङमो ह्रस्वादचि ङमुँण्नित्यम्** (८६) आदि हल्सन्धि के सूत्रों में व्यवस्था न बन सकेगी। अतः यही उचित प्रतीत

होता है कि-जहां अच् के स्थान पर सन्धि अर्थात् संयोगजन्य वर्णविकार करें चाहे उस का निमित्त अच् या हल् जो भी हो वहां 'अच्सन्धि' और जहां हल् के स्थान पर सन्धि अर्थात् संयोगजन्य वर्णविकार करें चाहे उस का निमित्त अच् या हल् जो भी हो वहां 'हल्-सन्धि' होती है। [अचां स्थाने सन्धिः=अच्सन्धिः; हलां स्थाने सन्धिः=हलसन्धिः]। अच्सन्धि में **झलां जश् झशि** (१९) आदि सूत्र प्रसङ्ग-वश लिखे गये हैं। इसी प्रकार हल्सन्धि में **विसर्जनीयस्य सः** (९६), **कुप्वोः ≍क ≍पौ च** (९८) प्रभृति विसर्गसन्धि के सूत्र तथा कुछ अन्य भी प्रसङ्ग-वश लिखे गये समझने चाहियें।

अभ्यास (२३)

(१) निम्नलिखित प्रयोगों में सूत्रसमन्वय करते हुए सन्धिच्छेद करें—
१. इच्छति। २. द्यूतच्छलेन। ३. कुटीच्छन्ना। ४. दन्तच्छदः। ५. असिच्छिन्नः। ६. मङ्गलच्छायः। ७. रुद्राच्छिक्का। ८. स्वच्छात्त्रः। ९. वैदिकच्छन्दांसि। १०. नवच्छिद्राणि। ११. गच्छति। १२. नूतनच्छात्त्रः। १३. चिच्छेद। १४.गूढाच्छेकोक्तिः। १५. माच्छिदः। १६. तीक्ष्णाच्छुरिका। १७. स्वच्छन्दः। १८. यज्ञच्छागः। १९. गुच्छच्छेदः। २०. कुलटाच्छिन्ननासिका।

(२) निम्नस्थ रूपों में सूत्रसमन्वयपूर्वक सन्धि करें—
१. आ+छिद्यते। २. कुमारी+छेत्स्यति। ३. पद+छेद। ४. भूपति+छाया। ५. काले+छिद्यते। ६. मधु+छन्दस्। ७. वनानि+छित्त्वा। ८. मा स्म+छिदः। ९. मूषक+छेद। १०. शीतला+छाया। ११. य+छति। १२. इ+छा। १३. सन्ति+छिद्राणि। १४. मा+छित्थाः। १५. नो+छेदः। १६. वि+छेद।

(३) गच्छति, इच्छति—आदि में तुँक् करने पर जश्त्व, चर्त्व होंगे या नहीं?

(४) **पदान्ताद्वा** द्वारा विहित तुँक् किस का अवयव है ? स्पष्ट करें।

(५) क्या 'महाविद्यालयछात्त्रः' प्रयोग शुद्ध है ?

(६) 'उच्छेदः' में तुँक् (?) किस सूत्र से होगा ?

(७) यदि 'मूर्च्छा' शुद्ध है तो 'वाञ्च्छति' क्यों नहीं ? सहेतुक लिखें।

(८) अच्सन्धि-हल्सन्धि शब्दों का विवेचन कर 'सन्धि' पर टिप्पण लिखें।

——::०::——

इति भैमीव्याख्ययोपेतायां लघु-सिद्धान्तकौमुद्यां हल्सन्धि-प्रकरणं समाप्तम्॥

अथ विसर्ग-सन्धि-प्रकरणम्

अब विसर्ग-सन्धि का प्रकरण आरम्भ किया जाता है। इस प्रकरण के नाम-करण पर सन्धि-प्रकरण के अन्त में प्रकाश डाला गया है वहीं देखें।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०३) **विसर्जनीयस्य सः** ।८।३।३४॥

खरि विसर्जनीयस्य सः स्यात्। विष्णुस्त्राता ॥

अर्थः—खर् परे होने पर विसर्जनीय के स्थान पर सकार आदेश हो।

व्याख्या—खरि ।७।१। (**खरवसानयोर्विसर्जनीयः** से 'खरि' अंश)। विसर्जनीयस्य ।६।१। सः ।१।१। मकारादकार उच्चारणार्थः। अर्थः—(खरि) खर् परे होने पर (विसर्जनीयस्य) विसर्जनीय के स्थान पर (सः) स् आदेश हो जाता है।

उदाहरण यथा—विष्णुः + त्राता = विष्णुस्त्राता (भगवान् विष्णु रक्षक है)। यहां तकार खर् परे होने से विसर्ग को स् हुआ है। यह सूत्र हल्सन्धि में प्रसङ्गतः आया था; वस्तुतः यह विसर्ग-सन्धि का ही है।

ध्यान रहे कि पदान्त 'स्' को रुँ हो कर विसर्ग बनते हैं और विसर्ग को खर् परे होने पर पुनः 'स्' हो जाता है; यह सब **ससजुषो रुँः** (१०५) सूत्र पर स्पष्ट करेंगे।

शङ्का—'विष्णुस्त्राता' यहां विसर्ग को सकार आदेश कर देने पर **ससजुषो रुँः** (१०५) से पुनः 'रुँ' आदेश क्यों नहीं हो जाता ?

समाधान—ससजुषो रुँः (८.२.६६) के प्रति **विसर्जनीयस्य सः** (८.३.३४) सूत्र असिद्ध है; अतः पुनः 'रुँ' आदेश नहीं होता।

टिप्पणी—विसर्जनीय और विसर्ग पर्याय हैं। पर्यायशब्दों में गौरव-लाघव का विचार नहीं किया जाता। अतः **विसर्गस्य सः** न कह कर आचार्य के **विसर्जनीयस्य सः** कहने में भी किसी प्रकार के गौरव की आशङ्का नहीं करनी चाहिये। कहा भी है—**पर्यायशब्दानां लाघवगौरवचर्चा नाऽऽद्रियते** (परिभाषा)। इसी प्रकार आचार्य द्वारा **अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः** (९१७) आदि सूत्रों में 'आदि' की जगह 'प्रभृति' शब्द के प्रयोग में तथा 'वा' के स्थान पर 'अन्यतरस्याम्' आदि शब्दों के प्रयोग में भी जानना चाहिये।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४) **वा शरि** ।८।३।३६॥

शरि विसर्गस्य विसर्गो वा स्यात्। हरिः शेते, हरिश्शेते ॥

अर्थः—शर् परे होने पर विसर्ग के स्थान पर विकल्प से विसर्ग हो।

व्याख्या—शरि ।७।१। विसर्जनीयस्य ।६।१। (**विसर्जनीयस्य सः** से)। विसर्जनीयः ।१।१। (**शर्परे विसर्जनीयः** से)। वा इत्यव्ययपदम्। अर्थः—(शरि) शर् परे होने पर (विसर्जनीयस्य) विसर्ग के स्थान पर (वा) विकल्प से (विसर्जनीयः) विसर्ग आदेश होता है।

शर् प्रत्याहार, खर् प्रत्याहार के अन्दर आ जाता है; अतः **विसर्जनीयस्य सः**

(१०३) के नित्य प्राप्त होने पर यह उस का अपवाद आरम्भ किया जाता है। शर् परे होने पर विसर्ग—विसर्गरूप में विकल्प से अवस्थित रहता है और पक्ष में पूर्व सूत्र से विसर्ग को स् भी हो जाता है। उदाहरण यथा—

हरिः+शेते (विष्णु अथवा शेर सोता है)। यहां शर्=शकार परे है अतः प्रकृतसूत्र से विसर्ग को विसर्ग होकर—हरिः शेते। पक्ष में **विसर्जनीयस्य सः** (१०३) सूत्र से विसर्ग को सकार होकर **स्तोः श्चुना श्चुः** (६२) से शकार के योग में उसे शकार हो जाता है—हरिश्शेते। इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं। इसी तरह—सर्पः सरति, सर्पस्सरति। रामः षष्ठः, रामष्षष्ठः [**ष्टुना ष्टुः** (६४)]। इत्यादि।

खर् प्रत्याहार में 'क्, ख्, च्, छ्, ट्, ठ्, त्, थ्, प्, फ्, श्, ष्, स्' इतने वर्ण आते हैं। इन में 'श्, ष्, स्' परे होने पर **वा शरि** (१०४) तथा 'क्, ख्, प्, फ्' परे होने पर **कुप्वोः≍क≍पौ च** (९८) प्रवृत्त हो जाता है। शेष बचे 'च्, छ्, ट्, ठ्, त्, थ्' वर्णों के परे होने पर ही **विसर्जनीयस्य सः** (१०३) सूत्र प्रवृत्त होता है। **विसर्जनीयस्य सः** (१०३) से स् होने पर भी केवल 'त्, थ्' परे होने पर ही वह अविकृत=विकाररहित=वैसे का वैसा रहता है, क्योंकि 'च्, छ्' में उसे **स्तोः श्चुना श्चुः** (६२) से 'श्' और 'ट्, ठ्' में उसे **ष्टुना ष्टुः** (६४) से 'ष्' हो जाता है। ग्रन्थकार ने 'विष्णुस्त्राता' यह उदाहरण 'त्' का दिया है। संस्कृत साहित्य में प्रायः थकारादि शब्द के न मिलने के कारण उन्होंने थकार परे का उदाहरण नहीं दिया। थकार परे के 'बालस्थूत्करोति' आदि उदाहरण हैं। इन सब की विवरण-तालिका निम्नलिखित प्रकार से जाननी चाहिये—

ख्	नर≍खादति, नरः खादति।	**कुप्वोः≍क≍पौ च** (९८)।
फ्	वृक्ष≍फलति, वृक्षः फलति।	**कुप्वोः≍क≍पौ च** (९८)।
छ्	वृक्षश्छादयति।	**विसर्जनीयस्य सः, स्तोः श्चुना श्चुः** (६२)।
ठ्	देवष्ठक्कुरः।	**विसर्जनीयस्य सः, ष्टुना ष्टुः** (६४)।
थ्	बालस्थूत्करोति।	**विसर्जनीयस्य सः** (१०३)।
च्	पुरुषश्चिनोति।	**विसर्जनीयस्य सः, स्तोः श्चुना श्चुः**।
ट्	बुधष्टीकते।	**विसर्जनीयस्य सः, ष्टुना ष्टुः** (६४)।
त्	रामस्त्राता।	**विसर्जनीयस्य सः** (१०३)।
क्	बाल≍करोति, बालः करोति।	**कुप्वोः≍क≍पौ च** (९८)।
प्	नृप≍पाति, नृपः पाति।	**कुप्वोः≍क≍पौ च** (९८)।
श्	पुरुषः शेते, पुरुषश्शेते।	**वा शरि, विसर्जनीयस्य सः, स्तोः श्चुना०**।
ष्	नृपः षष्ठः, नृपष्षष्ठः।	**वा शरि, विसर्जनीयस्य सः, ष्टुना ष्टुः**।
स्	सर्पः सरति, सर्पस्सरति।	**वा शरि, विसर्जनीयस्य सः** (१०३)।

नोट— **कुप्वोः≍क≍पौ च** (९८) सूत्र भी विसर्ग-सन्धि के प्रकरण का है, हल्सन्धि में प्रसङ्गवश लिखा गया था।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०५) **स-सजुषो रुँः** ।८।२।६६।।

पदान्तस्य सस्य सजुषश्च रुँः स्यात् ।।

अर्थः—पदान्त सकार तथा सजुष्शब्द के षकार के स्थान पर रुँ आदेश हो।

व्याख्या—ससजुषोः ।६।२।(सूत्र में **रो रि** द्वारा रेफ का लोप हुआ है)। **रुँः** ।१।१। पदस्य ।६।१। (यह पीछे से अधिकृत है) । समासः—सश्च सजूश्च =ससजुषौ, (सकारादकार उच्चारणार्थः), तयोः =ससजुषोः। इतरेतरद्वन्द्वः। 'पदस्य' इस विशेष्य का 'ससजुषोः' यह विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः —(ससजुषोः) सकारान्त और सजुष्शब्दान्त (पदस्य) पद के स्थान पर (रुँः) 'रुँ' आदेश हो जाता है। यहां सम्पूर्ण पद के स्थान पर विहित 'रुँ' आदेश **अलोऽन्त्यस्य** (२१) सूत्र से अन्त्य अल् अर्थात् सकारान्त पद के सकार को तथा सजुष्शब्दान्त पद के षकार को होगा।[1]

यह सूत्र विसर्ग की उत्पत्ति में कारण है। पदान्त सकार को जब यह रुँ आदेश कर देता है तो उकार की इत्सञ्ज्ञा हो कर 'र्' शेष रह जाता है। उस रेफ के स्थान पर अवसान में तथा खर् परे होने पर **खरवसानयोर्विसर्जनीयः**(९३) से विसर्ग आदेश हो जाता है। तदनन्तर विसर्ग के स्थान पर यथायोग्य जिह्वामूलीय आदि आदेश हुआ करते हैं। इन सब का विवरण हम पीछे लिख चुके हैं।

अब 'खर्' से भिन्न अक्षर यदि 'र्' से परे हो तो रेफ के स्थान पर क्या २ आदेश होते हैं ? इसे बतलाने के लिये यह प्रकरण आरम्भ किया जाता है।

'रुँ' में उकार अनुनासिक होने से **उपदेशेऽजनुनासिक इत्**(२८)सूत्र द्वारा इत्-सञ्ज्ञक है। उकार के इत् करने का फल आगे कहा जायेगा।

'शिवस्+अर्च्यः' (शिव जी पूजनीय हैं) यहां सुँबन्त होने से 'शिवस्' पद है अतः इस सूत्र से पदान्त सकार को रुँ, पुनः रुँ के उकार की इत्सञ्ज्ञा तथा लोप हो कर 'शिवर्+अर्च्यः' हुआ। अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम् –(१०६) **अतो रोरप्लुतादप्लुते** ।६।१।१०९।।

अप्लुतादतः परस्य रोरुः स्यादप्लुतेऽति । शिवोऽर्च्यः ।।

अर्थः—अप्लुत अत् से परे रुँ को 'उ' आदेश हो जाता है अप्लुत अत् परे हो तो।

व्याख्या—अतः ।५।१। अप्लुतात् ।५।१। रोः ।६।१। उत् ।१।१।(**ऋत उत्** सूत्र से)। अप्लुते ।७।१। अति ।७।१। (**एङः पदान्तादति** से)। न प्लुतः—अप्लुतः, तस्मात् =अप्लुतात्, नञ्तत्पुरुषसमासः। अर्थः —(अप्लुतात्) अप्लुत (अतः) अत् से परे (रोः) रुँ के स्थान पर (उत्) उत् हो (अप्लुते) अप्लुत (अति) अत् परे हो तो। यहां अत् उत् में तपर करने से ह्रस्व अकार उकार लिये जाते हैं।

---

१. सजुष्(मित्र) शब्द का उदाहरण—सजूः। सजुष्शब्द से प्रथमैकवचन सकार का हल्ङ्यादिलोप हो षकार को प्रकृतसूत्र से रुँत्व, **र्वोरुपधाया दीर्घ इकः** (३५१) से उपधादीर्घ तथा रेफ को विसर्ग करने से 'सजूः' सिद्ध होता है। इस शब्द का पूर्ण विवेचन हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में देखें।

'शिवर्+अर्च्यः' यहां अप्लुत अत् से परे रुँ है और उस से परे 'अर्च्यः' का अकार अलुप्त अत् विद्यमान है अतः रुँ के स्थान पर 'उ' हो—शिव उ+अर्च्यः। पुनः **आद् गुणः** (२७) से अ+उ मिल कर 'ओ' गुण हुआ तो—शिवो+अर्च्यः। अब **एङः पदान्तादति**(४३)से पूर्वरूप करने पर—'शिवोऽर्च्यः' प्रयोग सिद्ध होता है।

यद्यपि **ससजुषो रुँः**(८.२.६६)सूत्र के असिद्ध होने से उत्वविधि (६.१.१०९) के प्रति रुँत्वविधि असिद्ध होनी चाहिये थी तथापि वचनसामर्थ्य से असिद्ध नहीं होती; क्योंकि यदि रुँत्वविधि को असिद्ध मानें तो सारे व्याकरण में रुँ कहीं नहीं मिल सकेगा, यतः इस व्याकरण में उत्वोपयोगी रुँत्व करने वाला यही एक सूत्र है।

ध्यान रहे कि रुँ के स्थान पर उत् नहीं होता; किन्तु उकार की इत् सञ्ज्ञा हो लोप हो जाने पर शेष बचे र् के स्थान पर ही उत् होता है। सूत्र में रुँ के कथन का यह तात्पर्य है कि रुँ के र् को ही उत्व हो अन्य र् को न हो। यथा—प्रातर्+अत्र=प्रातरत्र, धातर्+अत्र=धातरत्र, लङि—अजागर्+अत्र=अजागरत्र। इत्यादि में रुँ के रेफ के न होने से उत्व नहीं होता।

यहां 'अप्लुत' ग्रहण का प्रयोजन बालकों के लिए अनुपयोगी जान नहीं लिखते। इस का **सिद्धान्त-कौमुदी** में सविस्तर विचार किया गया है वहीं देखें।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

१ बालोऽत्र। २ सोऽपि। ३ पुरुषोऽधुना। ४ मानुषोऽद्य। ५ शुद्धोऽहम्। ६ छात्रोऽयम्। ७ हस्तोऽस्य। ८ रामोऽस्मि। ९ नूतनोऽभ्यागतः। १० ग्रामोऽभ्यर्णः। ११ राज्ञोऽभिषेकः। १२ सोऽपवादः। १३ ततोऽन्यथा। १४ समाचारोऽन्तिमः। १५ मोऽनुस्वारः। १६ ज्येष्ठोऽनुजः। १७ शान्तोऽनलः। १८ वचनोऽनुनासिकः। १९ सुबोधोऽसि। २० न्यूनोऽसि।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०७) हशि च ।६।१।११०॥**

तथा। शिवो वन्द्यः॥

अर्थः—हश् परे हो तो अप्लुत अत् से परे रुँ के स्थान पर उत् आदेश हो।

व्याख्या—अप्लुतात् ।५।१। अतः ।५।१। रोः ।६।१।(**अतो रोरप्लुतादप्लुते** से)। उत् ।१।१।(**ऋत उत्** से)। हशि ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। अर्थः—(अप्लुतात्) अप्लुत (अतः) अत् से परे(रोः) रुँ के स्थान पर(उत्) ह्रस्व उकार आदेश होता है(हशि) हश् परे हो तो। उदाहरण यथा—

'शिवस्+वन्द्यः'(शिव जी वन्दनीय हैं)यहां **ससजुषो रुँः**(१०५)सूत्र से सकार को रुँ हो, उकार की इत्सञ्ज्ञा तथा लोप करने से—'शिवर्+वन्द्यः' बना। अब वकार=हश् परे रहते अप्लुत अत् से परे रेफ को उकार आदेश हो—'शिव उ+वन्द्यः' हुआ। पुनः **आद् गुणः** (२७) से गुण एकादेश किया तो 'शिवो वन्द्यः' प्रयोग सिद्ध हुआ। इस सूत्र के सम्पूर्ण उदाहरण यथा—

ह्—रामो हसति ।
य्—बालो याति ।
व्—शिवो वन्द्यः ।
र्—बालो रौति ।
ल्—बुधो लिखति ।
ञ्—बालो ञकारं पश्यति ।
म्—मूर्खो मुह्यति ।
ङ्—जनो ङादिशब्दं न विन्दति ।
ण्—को णोपदेशो धातुः ?
न्—भक्तो नमतीश्वरम् ।
झ्—वृक्षो झञ्झया पतितः ।
भ्—सूर्यो भाति ।
घ्—घोरा घोणिनो घोणा ।
ढ्—बालो ढक्कानादं शृणोति ।
ध्—पर्वतो धौतः ।
ज्—अगदो ज्वरघ्नः ।
ब्—को बाजः ।
ग्—नरो गच्छति ।
ड्—काको डिड्ये ।
द्—नृपो दास्यति ।

ससजुषो रुँः (१०५) से किया रुँत्व यहां भी वचनसामर्थ्य से असिद्ध नहीं होता ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०८) भो-भगो-अघो-अ-पूर्वस्य योऽशि ।८।३।१७॥**

एतत्पूर्वस्य रोर्यादेशोऽशि । देवा इह, देवायिह । भोस्, भगोस्, अघोस्—इति सान्ता निपाताः । तेषां रोर्यत्वे कृते—

अर्थः—अश् प्रत्याहार परे होने पर भो, भगो, अघो तथा अवर्ण पूर्व वाले रुँ के स्थान पर यकार आदेश होता है ।

व्याख्या—भोभगोअघोअपूर्वस्य ।६।१। रोः ।६।१। (**रोः सुँपि** से)। यः ।१।१। (यकारादकार उच्चारणार्थः)। अशि ।७।१। समासः—भोश्च भगोश्च अघोश्च अश्च =भोभगो-अघो-आः, इतरेतरद्वन्द्वः। सन्ध्यभावः सौत्रः। भो-भगो-अघो-आः पूर्वे यस्मात् स भो-भगो-अघो-अपूर्वस्तस्य, बहुव्रीहि-समासः । अर्थः—(भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य) भोपूर्वक, भगोपूर्वक, अघोपूर्वक तथा अवर्णपूर्वक (रोः) रुँ के स्थान पर (यः) य् आदेश हो जाता है (अशि) अश् परे हो तो । उदाहरण यथा—

देवास्+इह=देवारुँ+इह (**ससजुषो रुँः**) ='देवार्+इह' यहां 'इह' शब्द का आदि इकार=अश् परे है अतः अवर्णपूर्वक रुँ को य् हो—'देवाय्+इह' बना । अब **लोपः शाकल्यस्य** (३०) सूत्र से यकार का वैकल्पिक लोप करने से—'देवा इह' तथा 'देवायिह' ये दो रूप सिद्ध होते हैं । ध्यान रहे कि लोपपक्ष में लोप (८.३.१९) के असिद्ध होने से **आद् गुणः** (६.१.८४) सूत्र द्वारा गुण नहीं होता ।

भोस्, भगोस् तथा अघोस् ये सकारान्त निपात हैं; अर्थात् चादिगण में पाठ होने से इन की **चादयोऽसत्त्वे** (५३) सूत्र द्वारा निपातसञ्ज्ञा है । निपातसञ्ज्ञा होने से **स्वरादिनिपातमव्ययम्** (२६७) सूत्र से इनकी अव्ययसञ्ज्ञा भी हो जाती है। यहां सूत्र में इन के एकदेश [भो, भगो अघो] का ग्रहण किया गया है । ये सब सम्बोधन [सर्वसाधारण के सम्बोधन में भोस्, भगवान् के सम्बोधन में भगोस् तथा पापी के सम्बोधन में अघोस् का प्रायः प्रयोग देखा जाता है] में प्रयुक्त होते हैं । उदाहरण यथा—

भोस्+देवाः (हे देवताओ !), भगोस्+नमस्ते (हे भगवन् ! आप को नमस्कार

हो), अघोस्+याहि (हे पापिन् ! दूर हो)। इन सब स्थानों पर **ससजुषो रुः** (१०५) सूत्र से सकार को रुँ आदेश हो, उकार की इत् सञ्ज्ञा और उसका लोप करने पर—'भोर्+देवाः, भगोर्+नमस्ते, अघोर्+याहि' रूप बने। अब इस प्रकृत सूत्र से रुँ को य् आदेश करने से—भोय्+देवाः, भगोय्+नमस्ते, अघोय्+याहि—इस प्रकार स्थिति हुई। अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०६) हलि सर्वेषाम्** ।८।३।२२॥

भो-भगो-अघो-अ-पूर्वस्य यस्य लोपः स्याद्धलि। भो देवाः। भगो नमस्ते। अघो याहि॥

अर्थः—हल् परे होने पर भो, भगो, अघो तथा अवर्ण पूर्व वाले यकार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—भो-भगो-अघो-अ-पूर्वस्य ।६।१। (**भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि** से)। यस्य ।६।१। (**व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य** से वचनविपरिणाम कर के)। लोपः ।१।१। (**लोपः शाकल्यस्य** से)। हलि ।७।१। सर्वेषाम् ।६।३। अर्थः—(भोभगोअघोअ-पूर्वस्य) भोपूर्वक, भगोपूर्वक, अघोपूर्वक तथा अवर्णपूर्वक (यस्य) यकार का (हलि) हल् परे होने पर (लोपः) लोप हो जाता है (सर्वेषाम्) सब आचार्यों के मत में।

इस सूत्र से यकार का नित्यलोप हो कर 'भो देवाः, भगो नमस्ते, अघो याहि' ये रूप सिद्ध हो जाते हैं।

ग्रन्थकार ने इस सूत्र के अवर्णपूर्वक यकार के लोप का उदाहरण नहीं दिया। 'देवा हसन्ति' आदि स्वयम् उदाहरण ढूंढ लेने चाहियें। ध्यान रहे कि हल् परे होने पर ही यकार का नित्यलोप होगा परन्तु यदि अच् परे होगा तो **लोपः शाकल्यस्य** (३०) से लोप का विकल्प हो जायेगा। यथा—देवा इच्छन्ति, देवायिच्छन्ति। बाल इच्छति, बालयिच्छति।

अभ्यास (२४)

(१) सूत्रसमन्वय करते हुए सन्धिविच्छेद करें—

१. बाला आगच्छन्ति। २. नरो हन्ति। ३. चाण्डालोऽभिजायते। ४. भो देवदत्त ! सर्वेऽत्र मूर्खास्सन्ति। ५. अघो याहि। ६. भो (?) परमात्मन्। ७. कदागुरोकसो भवन्तः (भवन्तः ओकसः=गृहात् कदा अगुः ? आप घर से कब गये ?)। ८. कोऽदात्। ६. दुष्टो जिह्म इहासीत। १०. त्रैगुण्यविषया वेदाः। ११. धीरो न शोचति। १२. मृग एति। १३. छात्रयिच्छति। १४. पण्डिता भाग्यवन्तः। १५. नृपा ददति।

(२) सूत्र-निर्देश-पूर्वक सन्धि करें—

१. कविस्+करोति। २. हरिस्+तिष्ठति। ३. रविस्+उदेति। ४. लक्ष्मीस्+इच्छति। ५. तन्नस्+आसुव। ६. कृतस्+अत्र। ७. गौस्

+गच्छति। ८. अश्वास्+धावन्ति। ९. अपिपर्+अयम्[1]। १०. कृष्णमेघः+तिरस्+दधे। ११. नार्थस्+लृकारोपदेशेन[2]। १२. रामस्+अब्रवीत्। १३. भगोस्+परमात्मन्। १४. पुनर्+हसति। १५. हयास्+धावन्ति।

(३) उत्वविधि के प्रति रुँत्वविधि सिद्ध है या असिद्ध? सकारण लिखें।

(४) **अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः** तथा **पर्यायशब्दानां लाघवगौरवचर्चा नाद्रियते** इन परिभाषाओं का सोदाहरण विवेचन करें।

——::०::——

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११०) रोऽसुँपि** ।८।२।६९॥

अह्नो रेफादेशो न तु सुँपि। अहरहः। अहर्गणः॥

अर्थः—अहन् शब्द के अन्त्य नकार के स्थान पर रेफ आदेश होता है। परन्तु सुँप् परे होने पर नहीं होता।

व्याख्या—अहन् ।६।१। (**अहन्** सूत्र का अनुवर्त्तन होता है, यहां षष्ठी-विभक्ति का लुक् समझना चाहिये)। रः ।१।१। रेफादकार उच्चारणार्थः। असुँपि ।७।१। अर्थः—(अहन्) अहन् शब्द के स्थान पर (रः) र् आदेश होता है (असुँपि) परन्तु सुँप् परे होने पर नहीं होता। अलोऽन्त्यपरिभाषा से अहन् के अन्त्य नकार को ही रेफ आदेश होगा। उदाहरण यथा—

अहन्+अहन्=अहर्+अहर्=अहरहः (प्रतिदिन)। 'अहन् सुँ' इस पद को '**नित्यवीप्सयोः**(८८६) से द्वित्व हो—'अहन् सुँ अहन् सुँ' बना। पुनः **स्वमोर्नपुंसकात्** (२४४) से दोनों सुँप्रत्ययों का लुक् करने से—'अहन् अहन्'। अब यहां **न लुमताङ्गस्य** (१९१) से प्रत्ययलक्षण के निषेध हो जाने से सुँ=सुँप् के परे न होने के कारण नकार को रेफ आदेश हो—अहरहन्। दूसरे में भी लुक् होने से असुँप् होने के कारण **रोऽसुपि** सूत्र से नकार को रेफ तथा अवसान में उसे विसर्ग आदेश करने पर—'अहरहः' प्रयोग सिद्ध होता है।

दूसरा उदाहरण—अहन्+गण=अहर्+गण=अहर्गणः (दिनों का समूह; अह्नां गणः=अहर्गणः, षष्ठीतत्पुरुषसमासः।) 'अहन्+आम् गण+सुँ' इस अलौकिक-विग्रह में विभक्तियों का लुक् हो—अहन्+गण। अब यहां **न लुमताङ्गस्य** (१९१) से प्रत्ययलक्षण के निषेध होने से आम्=सुँप् के परे न होने के कारण नकार को रेफ आदेश हो—अहर्गण। विभक्ति लाने से—'अहर्गणः' प्रयोग सिद्ध होता है।

यह सूत्र **अहन्** (३६३; पदान्त में अहन् के नकार को रुँ आदेश हो) सूत्र का अपवाद है; अर्थात् उस सूत्र से रुँ प्राप्त होने पर इस सूत्र से रेफ आदेश विधान

---

१. **पॄ पालनपूरणयोः** (जुहो०) इति धातोर्लङि प्रथमपुरुषैकवचनमिदम्।

२. यहां रुँ को य् हो कर उस का वैकल्पिक लोप होगा।

किया जाता है। यदि रुँ आदेश होता तो 'अहरहः' में **अतो रोरप्लुतादप्लुते** (१०६) सूत्र द्वारा तथा अहर्गणः' में **हशि च** (१०७) सूत्र द्वारा उत्व हो कर अनिष्ट रूप बन जाता। अब रेफ आदेश करने से उत्व न होगा। इस कारण 'अहरहरत्र, अहरहर्दीप्तिः, अहरहर्गच्छति' इत्यादि प्रयोग बनेंगे, 'अहोऽहोऽत्र' आदि नहीं। यही रुँत्व न कह कर रेफ आदेश करने का प्रयोजन है।

शङ्का—आप ने **रोऽसुपि** सूत्र को **अहन्** (३६३) सूत्र का अपवाद माना है, परन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अपवाद के विषय में उत्सर्ग की प्राप्ति अवश्य हुआ करती है परन्तु यहां **रोऽसुपि** के उदाहरणों में **अहन्** (३६३) सूत्र प्राप्त नहीं हो सकता। तथाहि **रोऽसुपि** सूत्र के 'अहन्+अहन्, अहन्+गण' इत्यादि उदाहरण हैं। इन में सुँप् का लुक् होने से **न लुमताङ्गस्य** (१९१) द्वारा प्रत्ययलक्षण न हो सकने के कारण पदसञ्ज्ञा न हो सकेगी। पदसञ्ज्ञा न हो सकने से **अहन्** (३६३) सूत्र प्राप्त नहीं हो सकेगा। अतः प्रतीत होता है कि यह सूत्र **अहन्** (३६३) का अपवाद नहीं किन्तु स्वतन्त्रतया रेफ आदेश विधान करने वाला है।

समाधान—आप को **न लुमताङ्गस्य** (१९१) सूत्र के अर्थ में भ्रान्ति हो गई है। उस का अर्थ है—'लुक्, श्लु, लुप् शब्दों से प्रत्यय का अदर्शन करने पर उस को मान कर अङ्ग के स्थान पर कार्य नहीं होते' यहां स्पष्ट अङ्ग को कार्य करने का निषेध है। पदसञ्ज्ञा अङ्ग कार्य नहीं; क्योंकि वह अङ्ग और प्रत्यय दोनों को मिला कर की जाती है। अतः लुक् आदि शब्दों द्वारा सुँप् प्रत्यय का लुक् हो जाने पर भी पदसञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है और उसके हो जाने से तदाश्रित कार्य भी बेरोकटोक प्राप्त होते हैं। यथा—'राजपुरुषः' यहां ङस् का लुक् होने पर पदसञ्ज्ञा हो जाने के कारण **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) सूत्र से पद के अन्त वाले नकार का लोप सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'अहरहः, अहर्गणः' आदियों में सुँप् का लुक् हो जाने पर भी पदसञ्ज्ञा होती थी और उस के होने से **अहन्** (३६३) सूत्र द्वारा रुँत्व प्राप्त था। उस के प्राप्त होने पर यह **रोऽसुपि** सूत्र बनाया गया है, अतः यह उस का अपवाद है। इस के प्रवृत्त होने में **न लुमताङ्गस्य** (१९१) सूत्र से सुँप् का अभाव हो जाता है क्योंकि यह अङ्ग के स्थान पर रेफ आदेश करता है।

'असुँपि' यहां प्रसज्यप्रतिषेध है। अतः सुँप् परे न हो, और चाहे जो हो, यह सूत्र प्रवृत्त होगा। यदि यहां पर्युदास-प्रतिषेध मानें तो सुँप् से भिन्न तत्सदृश अर्थात् प्रत्यय परे होने पर ही यह सूत्र प्रवृत्त हो सकेगा; 'अहर्भाति, अहरहः, अहर्गणः' इत्यादि स्थानों पर जहां प्रत्यय परे नहीं प्रवृत्त न हो सकेगा, केवल 'अहर्वान्' इत्यादि स्थानों पर ही प्रवृत्त होगा। अतः यहां पर्युदास प्रतिषेध मानना उचित नहीं, प्रसज्यप्रतिषेध मानना ही युक्त है। सुँप् का निषेध इस लिये किया गया है कि 'अहोभ्याम्, अहोभिः' इत्यादि स्थानों पर रेफ न हो कर **अहन्** (३६३) से रुँत्व हो जाये। यदि यहां रेफ आदेश होता तो 'अहा रम्यम्' की तरह **हशि च** (१०७) से उत्व न हो सकता और उस के न होने से गुण भी न हो पाता।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—'अहरिदम्, अहरिदानीम्, अहरत्र, अहरदः, अहर्भाति, अहर्गच्छति' प्रभृति जान लेने चाहियें।

विशेष—इस सूत्र पर एक अपवाद वार्त्तिक है—वा०—**रूपरात्रिरथन्तरेषु रुँत्वं वाच्यम्**। अर्थात् रूप रात्रि और रथन्तर शब्दों के परे होने पर अहन् के नकार को रुँ आदेश हो। अहोरूपम्, गतमहो रात्रिरेषा, अहोरथन्तरम्।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१११) रो रि।८।३।१४॥**

रेफस्य रेफे परे लोपः॥

अर्थः—रेफ का रेफ परे होने पर लोप होता है।

व्याख्या—रः।६।१। रि।७।१। लोपः।१।१।(**ढो ढे लोपः** से)।अर्थः—(रः) रेफ का (रि) रेफ परे होने पर (लोपः) लोप हो जाता है। इसी प्रकार का एक सूत्र—**ढो ढे लोपः** (५५०) है। इस का अर्थ—(ढः।६।१) ढ् का (ढे।७।१) ढ् परे होने पर (लोपः।१।१) लोप हो जाता है।

इन दोनों सूत्रों का उपयोग अग्रिम सूत्र के उदाहरणों में किया जायेगा।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११२) ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः।६।३।११०॥**

ढरेफयोर्लोपनिमित्तयोः पूर्वस्याणो दीर्घः स्यात्। पुना रमते। हरी रम्यः। शम्भू राजते। अणः किम्? तृढः। वृढः॥

अर्थः—ढकार और रेफ के लोप में निमित्तभूत जो ढकार और रेफ उन के परे होने पर पूर्व अण् के स्थान पर दीर्घ हो जाता है।

व्याख्या—ढ्रलोपे।७।१। पूर्वस्य।६।१। अणः।६।१। दीर्घः।१।१। समासः—ढ् च रश्च=ढ्रौ, इतरेतरद्वन्द्वः। रेफादकार उच्चारणार्थः। ढ्रौ लोपयतीति ढ्रलोपः, ण्यन्तात् कर्मण्युपपदेऽण्प्रत्ययः। ढकार और रेफ का लोप करने वाले इस व्याकरण में **ढो ढे लोपः** (५५०) तथा **रो रि** (१११) में क्रमशः ढकार और रेफ ही हैं। अर्थः—(ढ्रलोपे) ढकार और रेफ का लोप करने वाले अर्थात् ढ् वा र् के परे होने पर (पूर्वस्य) पूर्व (अणः) अ, इ, उ वर्णों के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जब ढकार के परे रहते ढकार का लोप हो जाये अथवा रेफ के परे रहते रेफ का लोप हो जाये तो पूर्व अण् (अ, इ, उ) को दीर्घ हो जाता है। उदाहरण यथा—

(१) 'पुनर्+रमते' (फिर खेलता है) यहां 'रमते' के आदि रेफ को मान कर 'पुनर्' के रेफ का **रो रि** (१११) सूत्र से लोप हो जाता है। पुनः इस रेफलोप में निमित्त 'रमते' वाले रेफ के परे होने पर नकारोत्तर अकार=अण् को दीर्घ हो कर—'पुना रमते' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—

(२) 'हरिस्+रम्यः' (हरि सुन्दर है) यहां **ससजुषो रुः** (१०५) से पदान्त सकार को रुँ आदेश हो उकार इत् के चले जाने पर—हरिर्+रम्यः। अब **रो रि** (१११) से रेफ का लोप तथा **ढ्रलोपे०** (११२) से पूर्व अण् (इ) को दीर्घ करने से—'हरी रम्यः' प्रयोग सिद्ध होता है।

(३) 'शम्भुस्+राजते' (शिवजी शोभित होते हैं) यहां भी पूर्ववत् पदान्त सकार को रुँत्व, **रो रि** (१११) से रेफलोप तथा **ढ्रलोपे०** (११२) से पूर्व अण् (उ) को दीर्घ करने से —'शम्भू राजते' प्रयोग सिद्ध होता है।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

१. अहा रम्यम्। २. ना रम्य (नर्+रम्य! ; नृशब्दस्य संबोधने)। ३. अन्ताराष्ट्रियः। ४. सवितू रश्मयः। ५. नीरुक्। ६. लीढाम् (लिढ्+ढाम्; वह चाटे)। ७. भूपती रक्षति। ८. फेरू रौति। ९. नीरसः। १०. दाशरथी रामः। इत्यादि।

इस सूत्र में अण् प्रत्याहार पीछे (११) सूत्र पर कहे अनुसार पूर्व णकार (**अ इ उ ण्**) से ही लिया जायेगा; इस से 'तृढः' (मारा गया), 'वृढः' (तैयार, उद्यत) यहां पूर्व ऋकार को दीर्घ न होगा। तथाहि—'तृढ्+ढ, वृढ्+ढ' यहां **ढो ढे लोपः** (५५०) सूत्र से ढकार का लोप हो कर—'तृढः, वृढः' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

ढलोप का उदाहरण मूल में नहीं दिया गया; इस के—लिढ्+ढ=लि+ढ='लीढः' प्रभृति उदाहरण हैं।

यहां 'पूर्वस्य' ग्रहण का प्रयोजन **सिद्धान्त-कौमुदी** में देखना चाहिये।

नोट—'पुना रमते' में 'पुनस्+रमते' यह छेद अशुद्ध है, क्योंकि 'पुनर्'—यह रेफान्त अव्यय है, सकारान्त नहीं। वैसा होने पर 'मनोरथः' की तरह 'पुनो रमते' बन जाता। 'हरिस्+रम्यः, शम्भुस्+राजते' ये छेद तो शुद्ध है, अकारपूर्व न होने से इन में **हशि च** (१०७) प्राप्त नहीं।

[लघु०] 'मनस्+रथ' इत्यत्र रुँत्वे कृते 'हशि च' (१०७) इत्युत्वे 'रो रि' (१११) इति लोपे च प्राप्ते—

अर्थः—'मनस्+रथ' यहां **ससजुषो रुः** से सकार को रुँ किया तो **हशि च** से उत्व तथा **रो रि** से रेफ का लोप दोनों प्राप्त हुए [इस पर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होताहै]।

व्याख्या—यहां उत्व और रेफ-लोप युगपत् (इकट्ठे) प्राप्त होते हैं। इन दोनों में से कौन-सा हो ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये अग्रिम-सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्-**(११३) विप्रतिषेधे परं कार्यम् ।१।४।२॥**

तुल्यबलविरोधे परं कार्यं स्यात्। इति लोपे प्राप्ते 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' (३१) इति 'रो रि' (१११) इत्यस्यासिद्धत्वादुत्वमेव। मनोरथः॥

अर्थः—तुल्यबल वालों का विरोध होने पर परकार्य होता है।

व्याख्या—विप्रतिषेधे ।७।१। परम् ।१।१। कार्यम् ।१।१। अर्थः—(विप्रतिषेधे) विप्रतिषेध होने पर (परम्) पर (कार्यम्) कार्य होता है। **अन्यत्राऽन्यत्रलब्धावकाशयोरेकत्र प्राप्तिस्तुल्यबलविरोधः।** तुल्यबल वाले दो कार्यों के विरोध को विप्रतिषेध कहते हैं। पृथक्-पृथक् स्थानों (जहां वे परस्पर प्राप्त नहीं हो सकते) पर चरितार्थ होने वाले सूत्र तुल्यबल वाले कहाते हैं। इन तुल्यबल वालों का यदि **विरोध** हो

जाये तो इन में जो **अष्टाध्यायी** में परे पढ़ा गया है वही प्रवृत्त होगा । यथा—**हशि च** सूत्र 'शिवो वन्द्यः' आदि स्थानों पर चरितार्थ हो चुका है इन स्थानों पर **रो रि** सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता और '**रो रि**' सूत्र 'हरी रम्यः' आदि स्थानों पर चरितार्थ हो चुका है इन स्थानों पर **हशि च** सूत्र प्राप्त नहीं हो सकता; तो इस प्रकार **हशि च** और **रो रि** तुल्यबल वाले हैं अब इन तुल्यबल वालों का 'मनर्+रथ' में विरोध उत्पन्न हो गया है । तो यहां वही कार्य होगा जो अष्टाध्यायी में परे पढ़ा गया होगा । अष्टाध्यायी में **हशि च** (६.१.११०) सूत्र से **रो रि** (८.३.१४) सूत्र परे पढ़ा गया है अतः **रो रि** द्वारा रेफलोप की प्राप्ति हुई । परन्तु **रो रि** सूत्र त्रिपादीस्थ होने के कारण **हशि च** की दृष्टि में असिद्ध है [देखो—**पूर्वत्रासिद्धम्** (३१)] अतः **हशि च** की दृष्टि में **रो रि** का अस्तित्व ही नहीं रहता, इस से **हशि च** से उत्व हो कर—मन+उ+रथ । अब **आद् गुणः** (२७) सूत्र से गुण एकादेश कर विभक्ति लाने से—'मनोरथः' प्रयोग सिद्ध होता है । मनसो रथः=मनोरथः (अभिलाषा) ।

इसी प्रकार—१. बालो रोदिति । २. राघवो रामः । ३. काको रौति । ४. भूयो रमते । ५. ईश्वरो रचयति । ६. धर्मो रक्षति । ७. देवो राजते । ८. भूभृतो रोषः । आदि ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११४) एतत्तदोः सुँलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ।६।१।१२८।।**

अककारयोरेतत्तदोर्यः सुँस्तस्य लोपः स्याद्धलि, न तु नञ्समासे । एष विष्णुः । स शम्भुः । अकोः किम् ? एषको रुद्रः । अनञ्समासे किम् ? असः शिवः । हलि किम् ? एषोऽत्र ।।

अर्थः—ककार से रहित एतद् और तद् शब्द के सुँ का हल् परे होने पर लोप हो जाता है, परन्तु नञ्समास में नहीं होता ।

व्याख्या—एतत्तदोः ।६।२। सुँलोपः ।१।१। अकोः ।६।२। अनञ्समासे ।७।१। हलि ।७।१। समासः—एतच्च तच्च=एतत्तदौ, तयोः=एतत्तदोः, इतरेतरद्वन्द्वः । सोर्लोपः=सुँलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः[1] । न नञ्समासः=अनञ्समासः, तस्मिन्=अनञ्समासे, नञ्तत्पुरुषः । अविद्यमानः क्=ककारो ययोस्तौ=अकौ, तयोः=अकोः, बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(अकोः) ककाररहित (एतत्तदोः) एतद् और तद् शब्द के (सुँलोपः) सुँ का लोप होता है (हलि) हल् परे हो तो । परन्तु (अनञ्समासे) नञ्समास में नहीं होता । 'सुँ' से यहां प्रथमैकवचन अभिप्रेत है ।

उदाहरण यथा—एषस्+विष्णुः=एष विष्णुः (यह विष्णु है) । यहां वकार=हल् परे होने से एतद् शब्द से परे 'सुँ' प्रत्यय के सकार का लोप हो जाता है ।

सस्+शम्भुः=स शम्भुः । यहां शकार=हल् परे होने से तद् शब्द से परे 'सुँ' प्रत्यय के सकार का लोप हो जाता है ।

---

१. यहां 'सुँ' का सम्बन्ध 'एतत्तदोः' के साथ होने के कारण सौत्रत्वात् असमर्थ समास समझना चाहिये । अथवा 'सुँ' को लुप्तषष्ठ्यन्त पृथक् पद मानना चाहिये ।

एतद् और तद् शब्द की टि से पूर्व जब **अव्ययसर्वनाम्नामकँच् प्राक्टेः** (१२३३) सूत्र से अकच् प्रत्यय हो जाता है तब इन में ककार आ जाता है। तब हल् परे होने पर भी इन से परे 'सुँ' प्रत्यय का लोप नहीं हुआ करता। यथा—'एषकस्+रुद्रः' यहां सुँ का लोप न हो कर **ससजुषो रुः** (१०५) से रुँत्व, **हशि च** (१०७) से उत्व तथा **आद् गुणः** (२७) से गुण एकादेश करने से 'एषको रुद्रः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—सकस्+रुद्रः=सको रुद्रः, सकस्+शिवः=सकः शिवः इत्यादि में हल् परे होने पर भी सुँ का लोप नहीं होता, क्योंकि तद् शब्द ककार से रहित नहीं है।[1]

'अनञ्समासे' यहां प्रसज्यप्रतिषेध है अर्थात् नञ्समास न हो और चाहे समास हो या न हो सुँ का लोप हो जायेगा। यदि यहां पर्युदासप्रतिषेध मानें तो नञ्समास से भिन्न तत्सदृश अर्थात् समास का ग्रहण होने से 'एष रुद्रः, स शिवः' आदि में सुँ का लोप न हो सकेगा; अतः प्रसज्यप्रतिषेध मानना ही युक्त है।

नञ्समास में सुँलोप नहीं होता। यथा—'असः शिवः, अनेषः शिवः' (न सः=असः, न एषः=अनेषः) यहां सुँ को रुँ और रुँ को विसर्ग हो **वा शरि** (१०४) से विकल्प करके विसर्ग आदेश होगा। पक्ष में **विसर्जनीयस्य सः** (१०३) से सकार आदेश हो कर श्चुत्व (६२) हो जायेगा—असश्शिवः, अनेषश्शिवः।

हल् परे होने पर सुँ का लोप कहा गया है इस से अच् परे होने पर सुँलोप न होगा। यथा—एषस्+अत्र=एषरुँ+अत्र=एषर्+अत्र=एषउ+अत्र=एषो+अत्र=एषोऽत्र। यहां **अतो रोरप्लु०** (१०६) से उत्व, **आद् गुणः** (२७) से गुण तथा **एङः पदान्तादति** (४३) से पूर्वरूप हो जाता है। इसी प्रकार—'सोऽत्र' यहां भी सुँलोप न होगा। इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

ह्—स हसति। एष हसति।
य्—स याति। एष याति।
व्—स वमति। एष वमति।
र्—स रमते। एष रमते।
ल्—स लुनाति। एष लुनाति।

ञ्—स ञकारः। एष ञकारः।
म्—स मुह्यति। एष मुह्यति।
ङ्—स ङकारः। एष ङकारः।
ण्—स णकारः। एष णकारः।
न्—स नमति। एष नमति।

---

१. **प्रश्न**—एतद् और तद् में जब अकँच् प्रत्यय मध्य में आ जाता है तो एतकद् और तकद् ये भिन्न शब्द बन जाते हैं एतद् और तद् नहीं रहते। तब 'अकोः' यह निषेध व्यर्थ है।

उत्तर—इसी निषेध से एक परिभाषा निकलती है—**तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते**। अकँच् टि से पूर्व होता है अतः 'तन्मध्यपतित' है इस से उसे वही शब्द माना जाता है। इसीलिये 'उभकौ' इस अकँच् प्रत्यय में उभशब्द होने से ही द्विवचन सिद्ध हो जाता है। यदि यहां 'क' प्रत्यय कर दें तो वह मध्यपतित न होगा तब भिन्न शब्द माना जायेगा फिर उस में द्विवचन भी न होगा और अयच् हो जायेगा।

झ्—स झणत्कारः। एष झणत्कारः।
भ्—स भाति। एष भाति।
घ्—स घोषः। एष घोषः।
ढ्—स ढकारः। एष ढकारः।
ध्—स धावति। एष धावति।
ज्—स जयति। एष जयति।
ब्—स बध्नाति। एष बध्नाति।
ग्—स गच्छति। एष गच्छति।
ड्—स डिड्ये। एष डिड्ये।
द्—स ददाति। एष ददाति।
ख्—स खनति। एष खनति।
फ्—स फलति। एष फलति।
छ्—स छादयति। एष छादयति।
ठ्—स ठक्कुरः। एष ठक्कुरः।
थ्—स थूत्करोति। एष थूत्करोति।
च्—स चलति। एष चलति।
ट्—स टिट्टिभः। एष टिट्टिभः।
त्—स तरति। एष तरति।
क्—स करोति। एष करोति।
प्—स पठति। एष पठति।
श्—स शेते। एष शेते।
ष्—स षण्ढः। एष षण्ढः।
स्—स सर्पति। एष सर्पति।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११५) **सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्** ।६।१।१३०॥

सस् इत्यस्य सोर्लोपः स्यादचि, पादश्चेल्लोपे सत्येव पूर्येत। सेमाम-विड्ढि प्रभृतिम् (ऋ० २.२४.१)। सैष दाशरथी रामः॥

अर्थः—यदि केवल लोप होने से ही पाद पूरा होता हो तो अच् परे होने पर तद् शब्द के 'सुँ' का लोप हो जाता है।

व्याख्या—सः।६।१। (तद् शब्द का प्रथमा के एकवचन में 'सस्' रूप बनता है, उस का यहां अनुकरण किया गया है। इस के आगे षष्ठी के एकवचन का **छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति** इस कथन से छन्दोवत् होने के कारण **सुपां सुँलुक्०** सूत्र से लुक् हो जाता है)। सुँलोपः।१।१। (**एतत्तदोः सुँलोपः०** से)। अचि।७।१। लोपे।७।१। चेत् इत्यव्ययपदम्। एव इत्यप्यव्ययपदम् (**स्यश्छन्दसि बहुलम्** सूत्र से 'बहुलम्' की अनुवृत्ति आती है। उस से यहां 'एव' पद का ही ग्रहण किया जाता है)। अर्थः—(सः) 'सस्' के (सुँलोपः) सुँ का लोप हो जाता है (अचि) अच् परे होने पर (चेत्) यदि (लोपे) लोप होने पर (एव) ही (पाद-पूरणम्) पादपूर्त्ति होती हो तो। श्लोक आदि के एक विशेष भाग को छन्दःशास्त्र में 'पाद' कहते हैं; उसी का यहां ग्रहण समझना चाहिये। उदाहरण यथा—

सेमामविड्ढि प्रभृतिं य ईशिषेऽया विधेम नवया महा गिरा।
यथा नो मीढ्वान्त्स्तवते सखा तव बृहस्पते सीषधः सोत नो मतिम्॥

यह ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के चौबीसवें सूक्त का प्रथम मन्त्र है। यहां वैदिक जगती छन्द है। जगती छन्द के प्रत्येक पाद में बारह २ अक्षर होते हैं। **सेमाम-विड्ढि प्रभृतिं य ईशिषे** यह जगती छन्द का एक पाद है। इस में 'सस्+इमाम्' इस अवस्था में सकार का लोप हो कर गुण हो जाने से बारह अक्षरों का पाद पूरा हो जाता है। यदि यहां इस सूत्र से सकार का लोप न करते तो सकार को रुँ, रुँ को

य् (१०८) और य् का वैकल्पिक लोप (३०) हो—'स इमामविड्ढि प्रभृतिं य ईशिषे' इस प्रकार तेरह अक्षरों वाला पाद हो जाता; क्योंकि यकारलोप के असिद्ध होने से गुण प्राप्त नहीं हो सकता था। अब यहां इस सूत्र द्वारा विहित सकारलोप के त्रैपादिक न होने के कारण सिद्ध होने से गुण के निर्बाध हो जाने के कारण बारह अक्षर पूरे हो जाते हैं कोई दोष नहीं आता। द्वितीय उदाहरण यथा—

सैष दाशरथी[1] रामः, सैष राजा युधिष्ठिरः।
सैष कर्णो महात्यागी, सैष भीमो महाबलः॥

[ये वे भगवान् दशरथनन्दन श्रीराम हैं। ये वे राजा युधिष्ठिर हैं। ये वे महादानी कर्ण हैं। ये वे महाबली भीम हैं।] यह 'अनुष्टुभ्' (पथ्यावक्त्र) छन्द है। अनुष्टुभ् छन्द के चार पाद और प्रत्येक पाद में आठ २ अक्षर होते हैं। इन सब पादों में 'सस्+एषः' यहां प्रकृत सूत्र से स् का लोप हो **वृद्धिरेचि** (३३) से वृद्धि करने पर 'सैषः' प्रयोग सिद्ध होता है। इस से आठ २ अक्षरों वाले सब पाद पूरे हो जाते हैं। यदि यहां इस सूत्र से स् का लोप न करते तो सकार को रुँ, रुँ को य् और य् का वैकल्पिक लोप हो कर त्रैपादिकतामूलक असन्धि होने से—'स एषः' या 'सयेषः' इस प्रकार रूप हो जाते। इस से प्रत्येक पाद में नौ २ अक्षर हो कर छन्दोभङ्ग हो जाता। अतः यहां पादपूर्त्ति का—सिवाय इस के कि स् का सिद्ध लोप किया जाये, अन्य कोई उपाय नहीं; इसलिये स् का लोप किया गया है।

'बहुलम्' की अनुवृत्ति से 'एव' इसलिये ग्रहण किया गया है कि यदि किसी अन्य उपाय से पाद पूरा हो सकता हो तो स् का लोप न हो। किन्तु जब पादपूर्त्ति का अन्य कोई उपाय न सूझता हो तब लोप करना चाहिये। यथा—

सोऽहमाजन्मशुद्धानाम्, आफलोदयकर्मणाम्।
आसमुद्रक्षितीशानाम्, आनाकरथवर्त्मनाम्॥ (रघु० १.५)

यहां 'सस्+अहम्' में सकार का लोप करने पर 'साहम्' बन जाने से पाद की पूर्त्ति हो जाती है। परन्तु यह पादपूर्त्ति **अतो रोरप्लुतादप्लुते** (१०६) द्वारा उत्व कर गुण और पूर्वरूप करने पर भी हो सकती है। अतः यहां स् का लोप न कर उत्व आदि ही करेंगे।

आचार्य वामन इस सूत्र के 'पाद' शब्द से ऋग्वेद के पाद का ही ग्रहण करते हैं। उन का कथन है कि यदि ऋग्वेद के पाद की पूर्त्ति होती होगी तो सकार का लोप हो जायेगा। परन्तु सूत्र में किसी विशेष स्थान के पाद का उल्लेख न होने से सर्वत्र लोक अथवा वेद में इस की प्रवृत्ति होती है—ऐसा अन्य लोग मानते हैं। ग्रन्थकार ने दोनों मत दिखाने के लिये दोनों उदाहरण दे दिये हैं।

[लघु०] इति विसर्ग-सन्धि-प्रकरणम्॥

अर्थः—यहां विसर्ग-सन्धि का प्रकरण समाप्त होता है।

---

१. अत्र रो रि (१११) इति रेफलोपे **ढ्रलोपे०** (११२) इति पूर्वस्याणो दीर्घः।

व्याख्या—तनिक ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सम्पूर्ण प्रकरण विसर्गसन्धि का नहीं है। **अतो रोरप्लुतादप्लुते** (१०६), **हशि च** (१०७), **रोऽसुँपि** (११०), **एतत्तदोः०** (११४) आदि सूत्रों का—अवसान अथवा खर् परक न होने से विसर्गों के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। किञ्च यदि इस सम्पूर्ण प्रकरण को विसर्ग-सन्धिप्रकरण मानें तो **पञ्चसन्धिप्रकरण** यह कथन असङ्गत हो जाता है क्योंकि तब चार ही प्रकरण होते हैं—१ अच्सन्धि-प्रकरण। २ प्रकृतिभाव-प्रकरण। ३ हल्सन्धि-प्रकरण। ४ विसर्गसन्धि-प्रकरण। अतः हमारे विचार में यहां दो प्रकरण ही होने चाहियें। **वा शरि** (१०४) तक विसर्गसन्धि-प्रकरण और इस से आगे स्वादिसन्धि-प्रकरण। **वा शरि** (१०४) सूत्र से आगे जितने सूत्र कहे गये हैं उन सब का सुँ आदि प्रत्ययों के साथ सम्बन्ध है अतः आगे 'स्वादिसन्धि-प्रकरण' कहना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। 'सिद्धान्त-कौमुदी' में ऐसा किया भी गया है। इस प्रकार पञ्च-सन्धि-प्रकरण भी ठीक हो जाते हैं। प्रतीत होता है कि लिपिकरों की भूल से यहां दो प्रकरणों का एक प्रकरण कर दिया गया है।

[लघु०] समाप्तञ्चेदं पञ्च-सन्धि-प्रकरणम् ॥

अर्थः—यहां पञ्चसन्धिप्रकरण समाप्त होता है।

व्याख्या—(१) अच्सन्धि-प्रकरण, (२) प्रकृतिभाव-प्रकरण, (३) हल्सन्धि-प्रकरण, (४) विसर्गसन्धि-प्रकरण, (५) स्वादिसन्धि-प्रकरण ये पाञ्च सन्धि प्रकरण हैं। यहां कई लोग प्रकृतिभावप्रकरण को सन्धिप्रकरण नहीं मानते। उन का कथन है कि 'हरी एतौ' आदि में प्रकृतिभाव अर्थात् सन्धि का अभाव ही विधान किया गया है किसी सन्धि का विधान नहीं; अतः प्रकृतिभावप्रकरण को सन्धिप्रकरण में गिनना भूल है। 'पञ्च-सन्धि-प्रकरणम्' इस की सङ्गति लगाने के लिये वे **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** (७९), **वा पदान्तस्य** (८०) द्वारा विधान की गई एक अनुस्वार-सन्धि की कल्पना करते हैं। परन्तु हमारी सम्मति में 'प्रकृतिभावप्रकरण' के अन्दर **मय उञो वो वा** (५८), **इकोऽसवर्णे०** (५९), **ऋत्यकः** (६१) आदि सन्धि करने वाले सूत्र पाए जाते हैं; अतः प्रकृतिभावप्रकरण भी एक प्रकार का सन्धिप्रकरण ही है। नवीन अनुस्वारसन्धि की कल्पना करना ग्रन्थकार के आशय से विपरीत जान पड़ता है। आगे विद्वज्जन स्वयं युक्तायुक्त का विचार कर लें।

अभ्यास (२५)

(१) तुल्यबलविरोध किसे कहते हैं? उदाहरण दे कर समन्वय करें।

(२) **रोऽसुँपि** सूत्र किस का और कैसे अपवाद है?

(३) **सोऽचि लोपे०** सूत्र में 'एव' पद लाने की क्या आवश्यकता है?

(४) पञ्च सन्धिप्रकरण कौन से हैं? क्या प्रकृतिभावप्रकरण भी सन्धि-प्रकरण है?

(५) **एतत्तदोः सुँलोपोऽकोरनञ्समासे हलि** सूत्र में 'अनञ्समासे' यहां कौन सा प्रतिषेध है ? और ऐसा क्यों माना जाता है ?

(६) (क) 'एषकस्+शिवः' यहां सुँलोप क्यों न हो ?
(ख) 'तृढः' यहां पूर्व अण् को दीर्घ क्यों न हो ?
(ग) 'मनोरथः' यहां रेफ का लोप क्यों न हो ?
(घ) 'अजर्घाः' यहां सन्धिच्छेद करें ।
(ङ) **रोऽसुँपि** में 'असुँपि' क्यों कहा है ?

(७) सुँ का लुक् हो कर पदसंज्ञा करने में प्रत्ययलक्षण प्रवृत्त हो जाता है परन्तु लुक् हुए सुँ को मानने में वह प्रवृत्त नहीं होता—इस की सोदाहरण मीमांसा करें ।

(८) **रो रि** सूत्र का ऐसा उदाहरण बताएं जहां पूर्व अण् को दीर्घ न होता हो ? [भानो रश्मयः, नरपते रिपुः]

(९) 'अहर्गणः' में रुँ आदेश प्राप्त था पुनः रेफ आदेश क्यों विधान किया गया है ?

(१०) निम्नस्थ रूपों को सप्रमाण शुद्ध करें—

१. प्रातोऽत्र । २. पुनो रविरुदेति । ३. एषो गच्छामि । ४. अहो रम्यम् । ५. सो रोदिति । ६. अनेष रामः । ७. अजागोऽसौ । ८. सश्शान्तः । ९. साहमाजन्मशुद्धानाम् । १०. एषो दुःखप्रदो कालः ।

——:०:——

इति भैमीव्याख्ययोपेतायां लघु-सिद्धान्त-कौमुद्यां पञ्चसन्धि-प्रकरणं समाप्तम् ॥